महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

हिन्दी नाटक एवं रंगमंच

निर्धारित पाठ्यपुस्तक

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
द्वितीय सेमेस्टर
द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 08

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

हिन्दी नाटक एवं रंगमंच(निर्धारित पाठ्यपुस्तक)

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा

प्रथम संस्करण : जून 2018

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना, संयोजन एवं पाठ्चयन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं टंकण

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग (चन्द्रगुप्त – चयनित अंश)

सुश्री राधा सुरेश ठाकरे
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री बी. एस. मिरगे जनसंपर्क अधिकारी एवं श्री राजेश आगरकर प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

हम उन समस्त साहित्यकारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिनकी कृतियों का उपयोग प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में किया गया है । हम उन समस्त रचनाकारों, अनुवादकों, सम्पादकों, संकलनकर्त्ताओं, सर्वाधिकारधारकों, प्रकाशकों, मुद्रकों एवं इंटरनेट स्रोतों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं जिनकी सहायता से प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में संकलित रचनाओं के पाठ उपलब्ध हुए हैं।

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यपुस्तक दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- इस पाठ्यपुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विधा	निर्धारित पाठ्य कृतियाँ	कृतिकार	पृष्ठ क्रमांक
01.	प्रहसन	अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा	भारतेन्दु हरिचन्द्र	05 – 22
02.	नाटक	चन्द्रगुप्त (चयनित अंश)	जयशंकर प्रसाद	23 – 66
03.	दृश्य-काव्य	अन्धा युग – चौथा अंक (गान्धारी का शाप)	धर्मवीर भारती	67 – 88

अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा

– भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

ग्रन्थ बनने का कारण

बनारस में बंगालियों और हिन्दुस्तानियों ने मिलकर एक छोटा सा नाटकसमाज दशाश्वमेध घाट पर नियत किया है, जिसका नाम हिंदू नैशनल थिएटर है। दक्षिण में पारसी और महाराष्ट्र नाटक वाले प्रायः अन्धेर नगरी का प्रहसन खेला करते हैं, किन्तु उन लोगों की भाषा और प्रक्रिया सब असम्बद्ध होती है। ऐसा ही इन थिएटर वालों ने भी खेलना चाहा था और अपने परम सहायक भारतभूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से अपना आशय प्रकट किया। बाबू साहब ने यह सोचकर कि बिना किसी काव्य कल्पना के व बिना कोई उत्तम शिक्षा निकले जो नाटक खेला ही गया तो इसका फल क्या, इस कथा को काव्य में बाँध दिया। यह प्रहसन पूर्वोक्त बाबू साहब ने उस नाटक के पात्रों के अवस्थानुसार एक ही दिन में लिख दिया है। आशा है कि परिहासप्रिय रसिकजन इस से परितुष्ट होंगे। इति।

– श्री रामदीन सिंह

समर्पण

मान्य योग्य नहिं होत कोऊ कोरो पद पाये।
मान्य योग्य नर ते, जे केवल परहित जाये॥
जे स्वारथ-रत धूर्त हंस से काक-चरित-रत।
ते औरन हति बंचि प्रभुहि नित होहिं समुन्नत॥
जदपि लोक की रीति यही पै अन्त धर्म्म जय।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय॥
नर सरीर में रत्न वही जो परदुख साथी।
खात पियत अरु स्वसत स्वान मण्डुक अरु भाथी॥
तासों अब लौं करी, करी सों, पै अब जागिय।
गो श्रुति भारत देस समुन्नति मैं नित लागिय॥
साँच नाम निज करिय कपट तजि अन्त बनाइये।
नृप तारक हरि-पद भजि साँच बड़ाई पाइये॥

ग्रन्थकार :

छेदश्चन्दनचूतचम्पकवने रक्षा करीरद्रुमे:
हिंसा हंसमयूरकोकिलकुले काकेषुलीलारति:।
मातंगेन खरक्रय: समतुला कर्पूरकार्पासयो:
एषा यत्र विचारणा गुणिगणे देशाय तस्मै नम: ॥

प्रथम दृश्य

स्थान – बाह्य प्रान्त

(महन्तजी दो चेलों के साथ गाते हुए आते हैं)

सब : **राम भजो राम भजो राम भजो भाई।**
राम के भजे से गनिका तर गयी,
राम के भजे से गीध गति पायी।
राम के नाम से काम बनै सब,
राम के भजन बिनु सबहि नसाई॥
राम के नाम से दोनों नयन बिनु
सूरदास भए कबिकुलराई।
राम के नाम से घास जंगल की,
तुलसीदास भए भजि रघुराई॥

महन्त : बच्चा नारायणदास ! यह नगर तो दूर से बड़ा सुन्दर दिखलाई पड़ता है ! देख, कुछ भिच्छा-उच्छा मिलै तो ठाकुरजी को भोग लगै। और क्या।

नारायणदास : गुरुजी महाराज ! नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुन्दर है जो है सो, पर भिक्षा सुन्दर मिलै तो बड़ा आनन्द होय।

महन्त : बच्चा गोबरधनदास ! तू पश्चिम की ओर जा और नारायणदास पूरब की ओर जायेगा। देख, जो कुछ सीधा सामग्री मिलै तो श्रीशालग्रामजी का बालभोग सिद्ध हो।

गोबरधनदास : गुरुजी ! मैं बहुत-सी भिच्छा लाता हूँ। यहाँ के लोग तो बड़े मालवर दिखायी पड़ते हैं। आप कुछ चिन्ता मत कीजिये।

महन्त : बच्चा ! बहुत लोभ मत करना। देखना, हाँ –

लोभ पाप का मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहीं कीजिये, या मैं नरक निदान॥

(गाते हुए सब जाते हैं)

दूसरा दृश्य

स्थान – बाजार

कबाबवाला : कबाब गरमागरम मसालेदार – चौरासी मसाला बहत्तर आँच का – कबाब गरमागरम मसालेदार – खाय सो होंठ चाटै, न खाय सो जीभ काटै। कबाब लो, कबाब का ढेर – बेचा टके सेर।

घासीराम :

चने जोर गरम –
चने बनावैं घासीराम।
जिनकी झोली में दूकान॥
चना चुरमुर चुरमुर बौलै।
बाबू खाने को मुँह खोले॥
चना खावै तौकी, मैना।
बोलैं अच्छा बना चबैना॥
चना खायँ गफूरन, मुन्नी।
बोलैं और नहीं कुछ सुन्नी॥
चना खाते सब बंगाली।
जिनकी धोती ढीली-ढाली॥
चना खाते मियाँ जुलाहे।
डाढ़ी हिलती गाह बगाहे॥
चना हाकिम सब जो खाते।
सब पर दूना टिकस लगाते॥
चने जोर गरम – टके सेर।

नारंगीवाली : नारंगी ले नारंगी – सिलहट की नारंगी, बुटवल की नारंगी, रामबाग की नारंगी, आनन्दबाग की नारंगी। भई नीबू से नारंगी। मैं तो पिय के रंग न रंगी। मैं तो भूली लेकर संगी। नारंगी ले नारंगी। कँवला नीबू, मीठा नीबू, रंगतरा, संगतरा। दोनों हाथों लो – नहीं पीछे हाथ ही मलते रहोगे। नारंगी ले नारंगी। टके सेर नारंगी।

हलवाई : जलेबियाँ गरमागरम। ले सेब इमरती लड्डू गुलाबजामुन खुरमा बुन्दिया बरफी समोसा पेड़ा कचौड़ी दालमोट पकौड़ी घेवर गुपचुप। हलुआ ले हलुआ मोहनभोग। मोयनदार कचौड़ी कचाका हलुआ नरम चभाका। घी में गरक, चीनी में तरातर, चासनी में चभाचभ। ले भूर का लड्डू। जो खाय सो भी पछताय, जो न खाय सो भी पछताय। रेवडी कड़ाका। पापड़ पड़ाका। ऐसी जात हलवाई जिसके छत्तीस कौम हैं भाई। जैसे

कलकत्ते के विलसन मन्दिर के भितरिए, वैसे अन्धेर नगरी के हम। सब सामान ताजा। खाजा ले खाजा। टके सेर खाजा।

कुँजड़िन : ले धनिया मेथी सोआ पालक चौराई बथुआ करेमू नोनियाँ कुलफा कसारी चना सरसों का साग। मरसा ले मरसा। ले बैगन लौआ कोहड़ा आलू अरुई बण्डा नेनुआ सूरन रामतरोई मुरई। ले आदी मिरचा लहसुन पियाज टिकोरा। ले फालसा खिन्नी आम अमरूद निबुहा मटर होरहा। जैसे काजी वैसे पाजी। रैयत राजी टके सेर भाजी। ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर।

मुगल : बादाम पिस्ते अखरोट अनार बिहीदाना मुनक्का किशमिश अंजीर आबजोश आलूबोखारा चिलगोजा सेब नाशपाती बिही सरदा अंगूर का पिटारी। आमारा ऐसा मुल्क जिसमें अंगरेज का भी दाँत कट्टा ओ गया। नाहक को रुपया खराब किया बेवकूफ़ बना। हिन्दोस्तान का आदमी लक लक हमारे यहाँ का आदमी बुंबुक बुंबुक। लो सब मेवा टके सेर।

पाचकवाला :

चूरन अमलबेत का भारी।
जिसको खाते कृष्ण मुरारी॥
मेरा पाचक है पचलोना।
जिसको खाता श्याम सलोना॥
चूरन बना मसालेदार।
जिसमें खट्टे की बहार॥
मेरा चूरन जो कोई खाय।
मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय॥
हिन्दू चूरन इसका नाम।
बिलायत पूरन इसका काम॥
चूरन जब से हिन्द में आया।
इसका धन बल सभी घटाया॥
चूरन ऐसा हट्टा-कट्टा।
कीना दाँत सभी का खट्टा॥
चूरन चला दाल की मण्डी।
इसको खायेंगी सब रण्डी॥
चूरन अमले सब जो खावैं।
दूनी रिश्वत तुरत पचावैं॥
चूरन नाटकवाले खाते।
इसकी नकल पचाकर लाते॥
चूरन सभी महाजन खाते।

जिसको जमा हजम कर जाते ॥
चूरन खाते लाला लोग ।
जिसको अकिल अजीरन रोग ॥
चूरन खावै एडिटर जात ।
जिनके पेट पचै नहिं बात ॥
चूरन साहेब लोग जो खाता ।
सारा हिन्द हजम कर जाता ॥
चूरन पूलिसवाले खाते ।
सब कानून हजम कर जाते ॥
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर ॥

मछलीवाली : **मछरी ले मछरी ।**
मछरिया एक टके कै बिकाय ।
लाख टका कै बाला जोबन, गाहक सब ललचाय ॥
नैन-मछरिया रूप-जाल में, देखत ही फँसि जाय ॥
बिनु पानी मछरी सो बिरहिया, मिले बिना अकुलाय ॥

जातवाला (ब्राह्मण) : जात ले जात, टके सेर जात । एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं । टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाएँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कही वैसी व्यवस्था दें । टके के वास्ते झूठ को सच करें । टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान । टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें । टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें । वेद धर्म कुल-मरजादा सचाई-बड़ाई सब टके सेर । लुटाय दिया अनमोल माल । ले टके सेर।

बनिया : आटा, दाल, लकड़ी, नमक, घी, चीनी, मसाला, चावल ले टके सेर ।

(बाबाजी का चेला गोबरधनदास आता है और सब बेचनेवालों की आवाज सुन-सुनकर खाने के आनन्द में बड़ा प्रसन्न होता है ।)

गोबरधनदास : क्यों भाई बनिये, आटा कितने सेर ?

बनिया : टके सेर ।

गोबरधनदास : और चावल ?

बनिया : टके सेर ।

गोबरधनदास : और चीनी ?

बनिया : टके सेर।

गोबरधनदास : और घी ?

बनिया : टके सेर।

गोबरधनदास : सब टके सेर। सचमुच।

बनिया : हाँ महाराज, क्या झूठ बो लूँगा।

गोबरधनदास : (कुँजड़िन के पास जाकर) क्यों माई, भाजी क्या भाव ?

कुँजड़िन : बाबाजी, टके सेर। निनुआ, मुरई, धनिया, मिरचा, साग सब टके सेर।

गोबरधनदास : सब भाजी टके सेर। वाह – वाह ! बड़ा आनन्द है। यहाँ सभी चीज टके सेर। (हलवाई के पास जाकर) क्यों भाई हलवाई ! मिठाई कितने सेर ?

हलवाई : बाबाजी ! लडुआ, जलेबी, गुलाबजामुन, खाजा सब टके सेरे।

गोबरधनदास : वाह ! वाह !! बड़ा आनन्द है। क्यों बच्चा, मुझसे मसखरी तो नहीं करता ? सचमुच सब टके सेर ?

हलवाई : हाँ बाबाजी, सचमुच सब टके सेर। इस नगरी की चाल ही यही है। यहाँ सब चीज टके सेर बिकती है।

गोबरधनदास : क्यों बच्चा ! इस नगर का नाम क्या है ?

हलवाई : अन्धेरनगरी।

गोबरधनदास : और राजा का क्या नाम है ?

हलवाई : चौपट्ट राजा।

गोबरधनदास : वाह ! वाह ! अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा।

(यही गाता है और आनन्द से बिगुल बजाता है।)

हलवाई : तो बाबाजी, कुछ लेना-देना हो तो लो-दो।

गोबरधनदास : बच्चा, भिक्षा माँगकर सात पैसे लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई दे-दे, गुरुचेले सब आनन्दपूर्वक इतने में छक जायेंगे।

(हलवाई मिठाई तौलता है – बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अन्धेर नगरी गाते हुए जाते हैं।)

(यवनिका गिरती है)

तीसरा दृश्य

स्थान – जंगल

(महन्तजी और नारायणदास एक ओर से 'राम भजो' इत्यादि गीत गाते हुए आते हैं और दूसरी ओर से गोबरधनदास 'अन्धेर नगरी' गाते हुए आते हैं)

महन्त : बच्चा गोबरधनदास ! कह क्या भिक्षा लाया ? गठरी तो भारी मालूम पड़ती है।

गोबरधनदास : बाबाजी महाराज ! बड़े माल लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई है।

महन्त : देखूँ बच्चा !

(मिठाई की झोली अपने सामने रखकर खोल कर देखता है)

वाह ! वाह ! बच्चा ! इतनी मिठाई कहाँ से लाया ? किस धर्मात्मा से भेंट हुई ?

गोबरधनदास : गुरुजी महाराज ! सात पैसे भीख में मिले थे, उसी से इतनी मिठाई मोल ली है।

महन्त : बच्चा ! नारायणदास ने मुझसे कहा था कि यहाँ सब चीज टके सेर मिलती है, तो मैंने इसकी बात का विश्वास नहीं किया। बच्चा, वह कौन-सी नगरी है और इसका कौन राजा है, जहाँ टके सेर भाजी और टके सेर ही खाजा है ?

गोबरधनदास : अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

महन्त : तो बच्चा ! ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है, जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा हो।

दोहा

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजै बास॥
कोकिला वायस एक सम, पण्डित मूरख एक।
इन्द्रायन दाड़िम विषय, जहाँ न नेकु विवेक॥
बसिए ऐसे देस नहिं, कनक-वृष्टि जो होय।
रहिये तो दुख पाइये, प्रान दीजिए रोय॥

सो बच्चा चलो यहाँ से। ऐसी अन्धेर नगरी में हजार मन मिठाई मुफ्त की मिले तो किस काम की ? यहाँ एक छन नहीं रहना।

गोबरधनदास : गुरुजी, ऐसा तो संसार-भर में कोई देस ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगरी को छोड़कर नहीं जाऊँगा। और जगह दिन-भर माँगो तो भी पेट नहीं भरता। वरंच बाजे-बाजे दिन उपास करना पड़ता है। सो मैं तो यहीं रहूँगा।

महन्त : देख बच्चा, पीछे पछतायेगा।

गोबरधनदास : आपकी कृपा से कोई दुःख न होगा; मैं तो यही कहता हूँ कि आप भी यहीं रहिये।

महन्त : मैं तो इस नगर में अब एक क्षण भर नहीं रहूँगा। देख मेरी बात मान, नहीं पीछे पछतायेगा। मैं तो जाता हूँ। पर इतना कहे जाता हूँ कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना।

गोबरधनदास : प्रणाम गुरुजी, मैं आपका नित्य ही स्मरण करूँगा। मैं तो फिर भी कहता हूँ कि आप भी यहीं रहिये।

(महन्तजी नारायणदास के साथ जाते हैं; गोबरधनदास बैठकर मिठाई खाता है।)

(यवनिका गिरती है)

चौथा दृश्य

स्थान – राजसभा

(राजा, मन्त्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित हैं)

एक सेवक : (चिल्लाकर) पान खाइये, महाराज।

राजा : (पीनक से चौंक घबड़ाकर उठता है) क्या ? सुपनखा आयी ए महाराज। (भागता है)

मन्त्री : (राजा का हाथ पकड़कर) नहीं-नहीं, यह कहता है कि पान खाइये महाराज।

राजा : दुष्ट, लुच्चा, पाजी। नाहक हमको डरा दिया। मन्त्री इसको सौ कोड़े लगें।

मन्त्री : महाराज ! इसका क्या दोष है ? न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकारता।

राजा : अच्छा, तमोली को दो सौ कोड़े लगें।

मन्त्री : पर महाराज, आप 'पान खाइये' सुनकर थोड़े ही डरे हैं, आप तो सुपनखा के नाम से डरे हैं, सुपनखा को सजा हो।

राजा : (घबड़ाकर) फिर वही नाम ? मन्त्री तुम बड़े खराब आदमी हो। हम रानी से कह देंगे कि मन्त्री बेर-बेर तुमको सौत बुलाने चाहता है। नौकर ! नौकर ! शराब –

दूसरा नौकर : (एक सुराही में से एक गिलास में शराब उलट कर देता है।) लीजिए महाराज। पीजिए महाराज।

राजा : (मुँह बनाकर पीता है) और दे।

(नेपथ्य में – 'दुहाई है दुहाई' का शब्द होता है।)

कौन चिल्लाता है – पकड़ लाओ।

(दो नौकर एक फरियादी को पकड़ लाते हैं)

फरियादी : दोहाई है महाराज दोहाई है। हमारा न्याव होय।

राजा : चुप रहो। तुम्हारा न्याव यहाँ ऐसा होगा कि जैसा जम के यहाँ भी न होगा – बोलो क्या हुआ ?

फरियादी : महाराजा ! कल्लू बनिया की दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गयी। दोहाई है महाराज न्याव हो।

राजा : (नौकर से) कल्लू बनिया की दीवार को अभी पकड़ लाओ।

मन्त्री : महाराज, दीवार नहीं लायी जा सकती।

राजा : अच्छा, उसका भाई, लड़का, दोस्त, आशना जो हो उसको पकड़ लाओ।

मन्त्री : महाराज ! दीवार ईंट-चूने की होती है, उसको भाई-बेटा नहीं होता।

राजा : अच्छा, कल्लू बनिये को पकड़ लाओ।

(नौकर लोग दौड़कर बाहर से बनिये को पकड़ लाते हैं)

क्यों बे बनिए ! इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबकर मर गयी ?

मन्त्री : बरकी नहीं महाराज, बकरी।

राजा : हाँ-हाँ, बकरी क्यों मर गयी – बोल, नहीं अभी फाँसी देता हूँ।

कल्लू : महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगर ने ऐसी दीवार बनायी कि गिर पड़ी।

राजा : अच्छा, इस मल्लू को छोड़ दो, कारीगर को पकड़ लाओ।

(कल्लू जाता है, लोग कारीगर को पकड़ लाते हैं)

क्यों बे कारीगर ! इसकी बकरी किस तरह मर गयी ?

कारीगर : महाराज, मेरा कुछ कसूर नहीं, चूनेवाले ने ऐसा बोदा बनाया कि दीवार गिर पड़ी।

राजा : अच्छा, इस कारीगर को बुलाओ, नहीं-नहीं निकालो, उस चूनेवाले को बुलाओ।

(कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है)

क्यों बे खैर-सोपाड़ी-चूनेवाले ! इसकी कुबरी कैसे मर गयी ?

चूनेवाला : महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं, भिश्ती ने चूने में पानी ढेर दे दिया, इसी से चूना कमजोर हो गया होगा।

राजा : अच्छा चुन्नीलाल को निकालो, भिश्ती को पकड़ो।

(चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है)

क्यों बे भिश्ती ! गंगा-जमुना की किश्ती ! इतना पानी क्यों दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गयी।

भिश्ती : महाराज ! गुलाम का कोई कसूर नहीं, कसाई ने मसक इतनी बड़ी बनायी कि उसमें पानी जादे आ गया।

राजा : अच्छा, कसाई को लाओ, भिश्ती निकालो।

(लोग भिश्ती को निकालते हैं और कसाई को लाते हैं)

क्यौं बे कसाई, मशक ऐसी क्यों बनायी कि दीवार लगायी बकरी दबायी ?

कसाई : महाराज ! गड़ेरिया ने टके पर ऐसी बड़ी भेड़ मेरे हाथ बेची की उसकी मशक बड़ी बन गयी।

राजा : अच्छा कसाई को निकालो, गड़ेरिये को लाओ।

(कसाई निकाला जाता है गड़ेरिया आता है)

क्यों बे ऊख पौंड़े के गड़ेरिये। ऐसी बड़ी भेड़ क्यों बेचा कि बकरी मर गई ?

गड़ेरिया : महाराज ! उधर से कोतवाल साहब की सवारी आ गयी, सो उसके देखने में मैंने छोटी-बड़ी भेड़ का ख्याल नहीं किया, मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा : अच्छा, इसको निकालो, कोतवाल को अभी सरबमुहर पकड़ लाओ।

(गड़ेरिया निकाला जाता है, कोतवाल पकड़ा जाता है)

क्यों बे कोतवाल ! तैंने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली कि गड़ेरिये ने घबड़ाकर बड़ी भेड़ बेची, जिससे बकरी गिरकर कल्लू बनिया दब गया ?

कोतवाल : महाराज महाराज ! मैंने तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इन्तजाम के वास्ते जाता था।

मन्त्री : (आप ही आप) यह तो बड़ा गजब हुआ, ऐसा न हो कि बेवकूफ इस बात पर सारे नगर को फूँक दे या फाँसी दे दे। (कोतवाल से) यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली ?

राजा : हाँ-हाँ, यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली कि उसकी बकरी दबी ?

कोतवाल : महाराज महाराज –

राजा : कुछ नहीं, महाराज महाराज, ले जाओ, कोतवाल को अभी फाँसी दो। दरबार बरखास्त।

(लोग एक तरफ से कोतवाल को पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी ओर से मन्त्री को पकड़कर राजा जाते हैं)

(यवनिका गिरती है)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान – अरण्य

(गोबरधनदास गाते हुए आते हैं)

राग – काफी

अन्धेर नगरी अनबूझ राजा।
टका सेर भाजी टका सेर खाजा॥
नीच ऊँच सब एकहि ऐसे।
जैसे भँडुए पण्डित तैसे॥
कुल-मरजाद न मान बड़ाई।
सबै एक से लोग लुगाई॥
जात-पाँत पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि को होई॥
बेश्या जोरू एक समाना।
बकरी गऊ एक करि जाना॥
साँचे मारे मारे डोलैं।

छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं ॥
प्रगट सभ्य अन्तर छलधारी।
सोइ राजसभा बल भारी ॥
साँच कहैं ते पनही खावैं।
झूठे बहु बिधि पदवी पावैं ॥
छलियन के एका के आगे।
लाख कहौ एकहु नहिं लागे ॥
भीतर होइ मलिन की कारो।
चहिए बाहर रंग चटकारो ॥
धर्म अधर्म एक दरसाई।
राजा करे सो न्याव सदाई ॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे।
राज करहिं अमले अरु प्यादे ॥
अन्धाधुन्ध मच्यौ सब देसा।
मानहुँ राजा रहत विदेसा ॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई।
मानहुँ नृपति विधर्मी कोई ॥
ऊँच नीच सब एकहिं सारा।
मानहुँ ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा ॥
अन्धेर नगरी अनबूझ राजा।
टका सेर भाजी टका सेर खाजा ॥

(बैठकर मिठाई खाता है)

– गुरुजी ने हमको नाहक यहाँ रहने को मना किया था। माना कि देस बहुत बुरा है। पर अपना क्या ? अपने किसी राजकाज में थोड़े हैं कि कुछ डर है, रोज मिठाई चाभना, मजे में आनन्द से राम-भजन करना।

(मिठाई खाता है। चार प्यादे चार ओर से आकर उसे पकड़ लेते हैं)

पहला प्यादा : चल बे चल, बहुत मिठाई खा कर मुटाया है। आज पूरी हो गयी।

दूसरा प्यादा : बाबाजी चलिये, नमोनारायन कीजिये।

गोबरधनदास : (घबड़ाकर) हैं ! यह आफत कहाँ से आयी ! अरे भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो मुझको पकड़ते हो।

पहला प्यादा : आप ने बिगाड़ा है या बनाया है इससे क्या मतलब, अब चलिये। फाँसी चढ़िये।

गोबरधनदास : फाँसी । अरे बाप रे बाप फाँसी !! मैंने किसकी जमा लूटी है कि मुझको फाँसी ! मैंने किसके प्राण मारे कि मुझ को फाँसी !

दूसरा प्यादा : आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फाँसी होती है।

गोबरधनदास : मोटे होने से फाँसी ? यह कहाँ का न्याय है ! अरे, हँसी फकीरों से नहीं करनी होती।

पहला प्यादा : जब सूली चढ़ लीजियेगा तब मालूम होगा कि हँसी है कि सच। सीधी राह से चलते हो कि घसीटकर ले चलें ?

गोबरधनदास : अरे बाबा, क्यों बेकसूर का प्राण मारते हो ? भगवान् के यहाँ क्या जवाब दोगे ?

पहला प्यादा : भगवान् को जवाब राजा देगा। हमको क्या मतलब। हम तो हुक्मी बन्दे हैं।

गोबरधनदास : तब भी बाबा बात क्या है कि हम फकीर आदमी को नाहक फाँसी देते हो ?

पहला प्यादा : बात यह है कि कल कोतवाल को फाँसी का हुकुम हुआ था। जब फाँसी देने को उसको ले गये, तो फाँसी का फन्दा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं । हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फाँसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी-न-किसी की सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याव न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फाँसी दें।

गोबरधनदास : तो क्या और कोई मोटा आदमी इस नगर भर में नहीं मिलता जो मुझ अनाथ फकीर को फाँसी देते हैं !

पहला प्यादा : इसमें दो बात है – एक तो नगर भर में राजा के न्याव के डर से कोई मुटाता ही नहीं, दूसरे और किसी को पकड़ें तो वह न-जाने क्या बात बनावे कि हमीं लोगों के सिर कहीं न घहराय और फिर इस राज में साधू-महात्मा इन्हीं लोगों की तो दुर्दशा है, इससे तुम्हीं को फाँसी देंगे।

गोबरधनदास : दुहाई परमेश्वर की, अरे मैं नाहक मारा जाता हूँ ! अरे यहाँ बड़ा ही अन्धेर है, अरे गुरुजी महाराज का कहा मैंने न माना उसका फल मुझको भोगना पड़ा। गुरुजी कहाँ हो ! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ गुरुजी गुरुजी–

(गोबरधनदास चिल्लाता है, प्यादे लोग उस को पकड़ कर ले जाते हैं)

(यवनिका गिरती है)

छठा दृश्य

स्थान – श्मशान

(गोबरधनदास को पकड़े हुए चार सिपाहियों का प्रवेश)

गोबरधनदास : हाय बाप रे ! मुझे बेकसूर ही फाँसी देते हैं। अरे भाइयो, कुछ तो धरम विचारो ! अरे मुझ गरीब को फाँसी देकर तुम लोगों को क्या लाभ होगा ? अरे मुझे छोड़ दो। हाय ! हाय !

(रोता है और छुड़ाने का यत्न करता है)

पहला सिपाही : अबे, चुप रह – राजा का हुक्म भला कहीं टल सकता है ? यह तेरा आखिरी दम है, राम का नाम ले – बेफाइदा क्यों शोर करता है ? चुप रह –

गोबरधनदास : हाय ! मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरुजी ने कहा था कि ऐसे नगर में न रहना चाहिए, यह मैंने न सुना ! अरे ! इस नगर का नाम ही अन्धेर नगरी और राजा का नाम चौपट्ट है, तब बचने की कौन आशा है । अरे ! इस नगर में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है जो इस फकीर को बचावे। गुरुजी ! कहाँ हो ? बचाओ-बचाओ-गुरुजी-गुरुजी –

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं। गुरुजी और नारायणदास आते हैं)

गुरु : अरे बच्चा गोबरधनदास ! तेरी यह क्या दशा है ?

गोबरधनदास : (गुरु को हाथ जोड़कर) गुरुजी ! दीवार के नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिये मुझे फाँसी देते हैं, गुरुजी बचाओ।

गुरु. : अरे बच्चा ! मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगर में रहना ठीक नहीं; तैंने मेरा कहना नहीं सुना।

गोबरधनदास : मैंने आपका कहा नहीं माना, उसी का यह फल मिला। आपके सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करे। आप ही का हूँ, आप के सिवा और कोई नहीं (पैर पकड़ कर रोता है)।

महन्त : कोई चिन्ता नहीं, नारायण सब समर्थ है। (भौं चढ़ाकर सिपाहियों से) सुनो, मुझको अपने शिष्य को अन्तिम उपदेश देने दो, तुम लोग तनिक किनारे हो जाओ, देखो मेरा कहना न मानोगे तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही : नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चेले के कान में कुछ समझाते हैं)

गोबरधनदास : (प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फाँसी चढ़ेंगे।

महन्त : नहीं बच्चा, मुझको चढ़ने दे।

गोबरधनदास : नहीं गुरुजी, हम फाँसी चढ़ेंगे।

महन्त : नहीं बच्चा हम। इतना समझाया नहीं मानता, हम बूढ़े भए, हमको जाने दे।

गोबरधनदास : स्वर्ग जाने में बूढ़ा जवान क्या ? आप तो सिद्ध हो, आपको गति-अगति से क्या ? मैं फाँसी चढ़ूँगा।

(इसी प्रकार दोनों हुज्जत करते हैं। सिपाही लोग परस्पर चकित होते हैं)

पहला सिपाही : भाई ! यह क्या माजरा है, कुछ समझ में नहीं पड़ता।

दूसरा सिपाही : हम भी नहीं समझ सकते हैं कि यह कैसा गबड़ा है।

(राजा, मन्त्री, कोतवाल आते हैं)

राजा : यह क्या गोलमाल है ?

पहला सिपाही : महाराज ! चेला कहता है मैं फाँसी चढ़ूँगा, गुरु कहता है मैं चढ़ूँगा, कुछ मालूम नहीं पड़ता कि क्या बात है ?

राजा : (गुरु से) बाबाजी ! बोलो काहे को आप फाँसी चढ़ते हैं ?

महन्त : राजा ! इस समय ऐसा साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुण्ठ जायेगा।

मन्त्री : तब तो हमीं फाँसी चढ़ेंगे।

गोबरधनदास : हम हम। हमको तो हुकुम है।

कोतवाल : हम लटकेंगे। हमारे सबब तो दीवार गिरी।

राजा : चुप रहो, सब लोग। राजा के आछत और कौन बैकुण्ठ जा सकता है। हमको फाँसी चढ़ाओ, जल्दी जल्दी।

महन्त : जहाँ न धर्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजन समाज।
ते ऐसहि आपुहि नसे, जैसे चौपट राज॥

(राजा को लोग टिकठी पर खड़ा करते हैं)

(पटाक्षेप)

॥ इति ॥

शब्दार्थ – बंचि = गुणगान कर। भाथी = धौंकनी। नसाई = नष्ट होना। राई = विभिन्न कवियों में श्रेष्ठ। सीधा सामग्री = खाद्य सामग्री। मालवर = धनवान्। निदान = अन्त में। तौकी, मैना, गफूरन, मुन्नी = काशी की प्रसिद्ध वेश्याएँ। सिलहट = बांग्लादेश का एक नगर। बुटवल= नेपाल का एक कस्बा। कँवला नीबू = बड़ा नीबू। रंगतरा= सन्तरा। संगतरा = मीठी नारंगी। कचाका = मुलायम। चभाका = तर। चभाचभ = तर किया हुआ। बैर = श्लिष्ट शब्द (i. एक फल विशेष – फूट और बेर। ii. व्यंग्यार्थ – आपसी फूट और बैर भाव।) बिहीदाना = अमरूद जैसे एक फल के बीज। आबजोश = मुनक्का। सरदा = खरबूजे की जाति का एक श्रेष्ठ फल। लकलक = दुबला-पतला। बुंबुक= बहादुर, बलवान्। अमलबेत = एक खट्टा फल। 'कीना दाँत सभी का खट्टा' = मुहावरा – पराजित करने के अर्थ में। अमलें = कचहरी के कारिन्दे। 'इसकी नकल पचाकर लाते' = रिश्वत लेते कारिन्दों का अभिनय करते हैं। अकिल अजीरन = अक्ल की अपच। बाला = कुँवारा। चाल = चलन, परम्परा। सेत = श्वेत (रंग वाली चीजें)। वायस = कौआ। इन्द्रायन = लाल रंग का एक सुन्दर, लेकिन कड़ुआ फल। दाड़िम = अनार। कनक-वृष्टि = सोने की वर्षा, अर्थात् चाहे जितना धन मिले। बाजे-बाजे = किसी-किसी। पीनक = पिनक, हल्का नशा। नाहक = अकारण। बेर-बेर = बार-बार। जम = यमराज। आशना = परिचित या सम्बन्धी। बोदा = घटिया, बेजान। गड़ेरिया = गड़ेरिया एक जाति विशेष, यहाँ व्यंग्यार्थ – मोटा गड़ेरिया। सरबमुहर = तुरन्त। पनही = जूता। मलिन = मैला। 'भीतर स्वाहा बाहर सादे' = भीतर से काले, ऊपर से निर्मल, धूर्त, कपटी। 'मानहुँ ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा' = जैसे ब्रह्म-ज्ञानी हो, जो ऊँच-नीच को समान भाव से देखते हैं। (व्यंग्य भाव है।) चाभना = छककर खाना। जमा = कोष, खजाना। बन्दे = हुक्म बजाने वाले। 'सिर कहीं न घहराय' = सिर न आ

पड़े। गबड़ा = धुन्ध। आछत = होते हुए। आपुहि = अपने आप, स्वयं । टिकठी = फाँसी के लिये लगाया गया तख़्ता।

छेदश्चन्दनचूतचम्पकवने रक्षा करीरद्रुमे:
हिंसा हंसमयूरकोकिलकुले काकेषुलीलारति:।
मातंगेन खरक्रय: समतुला कर्पूरकार्पासयो:
एषा यत्र विचारणा गुणिगणे देशाय तस्मै नम: ॥

अर्थ – जो चन्दन, आम तथा चम्पा-वन को काटकर कीकर के वृक्ष की रक्षा करता है, जो हंस, मोर और कोयल के प्रति हिंसक होकर काक-लीला में रुचि लेता है, जो हाथी के बदले गधा खरीदता है और कपूर एवं कपास को (उनके श्वेत रंग के कारण) एक-सा मानता है (और) जहाँ के 'गुणीजन' ऐसे ही विचार रखते हों, उस देश को नमस्कार है।

❖❖❖

चन्द्रगुप्त

– जयशंकर प्रसाद

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

चाणक्य (विष्णुगुप्त)	:	मौर्य्य साम्राज्य का निर्माता
चन्द्रगुप्त	:	मौर्य्य-सम्राट्
नन्द	:	मगध-सम्राट्
राक्षस	:	मगध का अमात्य
वररुचि (कात्यायन)	:	मगध का अमात्य
शकटार	:	मगध का मन्त्री
आम्भीक	:	तक्षशिला का राजकुमार
सिंहरण	:	मालव गणमुख्य का कुमार
पर्वतेश्वर	:	पंजाब का राजा (पोरस)
सिकन्दर	:	ग्रीक-विजेता
फिलिप्स	:	सिकन्दर का क्षत्रप
मौर्य्य-सेनापति	:	चन्द्रगुप्त का पिता
एनीसाक्रोटीज	:	सिकन्दर का सहचर
देवबल, नागदत्त, गणमुख्य	:	मालव गणतन्त्र के पदाधिकारी
साइबर्टियस, मेगस्थनीज	:	यवन-दूत
गान्धार-नरेश	:	आम्भीक का पिता
सिल्यूकस	:	सिकन्दर का सेनापति
दाण्ड्यायन	:	एक तपस्वी

स्त्री पात्र

अलका	:	तक्षशिला की राजकुमारी
सुवासिनी	:	शकटार की कन्या
कल्याणी	:	मगध की राजकुमारी
नीला, लीला	:	कल्याणी की सहेलियाँ
मालविका	:	सिन्धु-देश की कुमारी
कार्नेलिया	:	सिल्यूकस की कन्या
मौर्य्य-पत्नी	:	चन्द्रगुप्त की माता
एलिस	:	कार्नेलिया की सहेली

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

(तक्षशिला के गुरुकुल का मठ। चाणक्य और सिंहरण)

चाणक्य : सौम्य, कुलपति ने मुझे गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी । केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिये ठहरा था; क्योंकि इस वर्ष के भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर मुझ अकिंचन को गुरुदक्षिणा चुका देनी थी।

सिंहरण : आर्य्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्र-शस्त्र की । इसीलिए मैं पाठ में पिछड़ा रहा, क्षमाप्रार्थी हूँ।

चाणक्य : अच्छा, अब तुम मालव जाकर क्या करोगे ?

सिंहरण: अभी तो मैं मालव नहीं जाता । मुझे तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।

चाणक्य : मुझे प्रसन्नता होती है कि तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा । क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं ?

सिंहरण: मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ – आर्य्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिये कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्ड-राज्य द्वेष से जर्ज्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।

(सहसा आम्भीक और अलका का प्रवेश)

आम्भीक : कैसा विस्फोट ? युवक, तुम कौन हो ?

सिंहरण: एक मालव।

आम्भीक : नहीं, विशेष परिचय की आवश्यकता है।

सिंहरण: तक्षशिला गुरुकुल का एक छात्र।

आम्भीक : देखता हूँ कि तुम दुर्विनीत भी हो ।

सिंहरण : कदापि नहीं राजकुमार ! विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, और मुझे तो तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।

आम्भीक : परन्तु तुम किसी विस्फोट की बातें अभी कर रहे थे। और चाणक्य क्या तुम्हारा भी इसमें कुछ हाथ है ?

(चाणक्य चुप रहता है)

आम्भीक : (क्रोध से) बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर, मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन !

चाणक्य : राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिये ज्ञान का दान देता है।

आम्भीक : वह काल्पनिक महत्त्व – मायाजाल है; तुम्हारे प्रत्यक्ष नीचकर्म उस पर परदा नहीं डाल सकते।

चाणक्य : सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय ? इसी से दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य्य-जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।

आम्भीक : और तुम धक्का देने का कुचक्र विद्यार्थियों को सिखा रहे हो ?

सिंहरण : विद्यार्थी और कुचक्र ! असम्भव। ये तो वे ही कर सकते हैं जिनके हाथ में अधिकार हो – जिनका स्वार्थ समुद्र से भी विशाल और सुमेरु से भी कठोर हो, जो यवनों की मित्रता के लिये स्वयं वाल्हीक तक ...

आम्भीक : बस-बस, दुर्द्धर्ष युवक ! बता तेरा अभिप्राय क्या है ?

सिंहरण : कुछ नहीं।

आम्भीक : नहीं, बताना होगा। मेरी आज्ञा है।

सिंहरण : गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य होती है, अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं राजकुमार !

अलका : भाई ! इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ हृदय में कितना बलवान् वेग है ! यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है। जाने दो।

आम्भीक : चुप रहो अलका, यह ऐसी बात नहीं है जो यों ही उड़ा दी जाय। इसमें कुछ रहस्य है।

(चाणक्य चुपचाप मुस्कराता है)

सिंहरण : हाँ-हाँ रहस्य है ! यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल-स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्य्यावर्त्त की सुख-रजनी की शान्ति-निद्रा में, उत्तरापथ की अर्गला – धीरे से खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार – सम्भवतः तक्षशिलाधीश वाल्हीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे ?

आम्भीक : (पैर पटककर) ओह, असह्य ! युवक, तुम बन्दी हो।

सिंहरण : कदापि नहीं; मालव कदापि बन्दी नहीं हो सकता।

(आम्भीक तलवार खींचता है)

चन्द्रगुप्त : (सहसा प्रवेश करके) ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य्य स्वतन्त्र है, उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता। यह क्या राजकुमार ! खड्ग को कोष में स्थान नहीं है क्या ?

सिंहरण : (व्यंग्य से) वह तो स्वर्ण से भर गया है।

आम्भीक : तो तुम सब कुचक्र में लिप्त हो। और इस मालव को तो मेरा अपमान करने का प्रतिफल – मृत्युदण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा।

चन्द्रगुप्त : क्यों, क्या वह एक निस्सहाय छात्र तुम्हारे राज्य में शिक्षा पाता है और तुम एक राजकुमार हो – बस इसीलिए ?

(आम्भीक तलवार चलाता है ; चन्द्रगुप्त अपनी तलवार पर उसे रोकता है ; आम्भीक की तलवार छूट जाती है ; वह निस्सहाय होकर चन्द्रगुप्त के आक्रमण की प्रतीक्षा करता है ; बीच में अलका आ जाती है।)

सिंहरण : वीर चन्द्रगुप्त, बस। जाओ राजकुमार, यहाँ कोई कुचक्र नहीं है, अपने कुचक्र से अपनी रक्षा स्वयं करो।

चाणक्य : राजकुमारी, मैं गुरुकुल का अधिकारी हूँ। मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा जाओ। गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिये होता है, द्वन्द्व-युद्ध के

लिये नहीं। विश्वास रखना इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज के कानों तक न पहुँचेगा।

अलका : ऐसा ही हो। चलो भाई !

(क्षुब्ध आम्भीक उसके साथ जाता है)

चाणक्य : (चन्द्रगुप्त से) तुम्हारा पाठ समाप्त हो चुका है और आज का यह काण्ड – असाधारण है। मेरी सम्मति है कि तुम शीघ्र तक्षशिला का परित्याग कर दो। और सिंहरण, तुम भी।

चन्द्रगुप्त : आर्य्य, हम मागध हैं और यह मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते।

चाणक्य : क्या यही मेरी शिक्षा है ? बालकों की-सी चपलता दिखलाने का यह स्थल नहीं। तुम लोगों को समय पर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु अकारण रक्तपात नीति-विरुद्ध है।

चन्द्रगुप्त : आर्य्य। संसार-भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिये मर-मिटना ही दिव्य जीवन है। सिंहरण मेरा आत्मीय है, मित्र है, उसका मान मेरा ही मान है।

चाणक्य : देखूँगा कि इस आत्म-सम्मान की भविष्य-परीक्षा में तुम कहाँ तक उत्तीर्ण होते हो !

सिंहरण : आपके आशीर्वाद से हम लोग अवश्य सफल होंगे।

चाणक्य : तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न ? परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में, आर्य्यावर्त्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे ? आज जिस व्यंग्य को लेकर इतनी घटना हो गयी है, वह बात भावी गान्धार-नरेश आम्भीक के हृदय में शल्य के समान चुभ गयी है। पंचनद-नरेश पर्वतेश्वर के विरोध के कारण यह क्षुद्र-हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्य्यावर्त्त का सर्वनाश होगा।

चन्द्रगुप्त : गुरुदेव, विश्वास रखिये; यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है, कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।

चाणक्य : तुम्हारी प्रतिज्ञा अचल हो। परन्तु इसके लिये पहले तुम मगध जाकर साधन-सम्पन्न बनो। यहाँ समय बिताने का प्रयोजन नहीं। मैं भी पंचनद-नरेश से मिलता हुआ मगध आऊँगा। और सिंहरण, तुम भी सावधान !

सिंहरण : आर्य्य, आपका आशीर्वाद ही मेरा रक्षक है।

(चन्द्रगुप्त और चाणक्य का प्रस्थान)

सिंहरण : एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्य्यावर्त्त के लौह-अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रण-लक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजय-माल हाथ में लिये उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे तब आओ देवि ! स्वागत !!

(अलका का प्रवेश)

अलका : मालववीर, अभी तुमने तक्षशिला का परित्याग नहीं किया ?

सिंहरण : क्यों देवि ! क्या मैं यहाँ रहने के उपयुक्त नहीं हूँ ?

अलका : नहीं, मैं तुम्हारी सुख-शान्ति के लिये चिन्तित हूँ ? भाई ने तुम्हारा अपमान किया है, पर वह अकारण न था ! जिसका जो मार्ग है उस पर वह चलेगा। तुमने अनधिकार चेष्टा की थी। देखती हूँ कि प्राय: मनुष्य, दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिये रुक जाता है, और अपना चलना बन्द कर देता है।

सिंहरण : परन्तु भद्रे, जीवन-काल में भिन्न-भिन्न मार्गों की परीक्षा करते हुए जो ठहरता हुआ चलता है, वह दूसरों को लाभ ही पहुँचाता है। यह कष्टदायक तो है; परन्तु निष्फल नहीं।

अलका : किन्तु मनुष्य को अपने जीवन और सुख का भी ध्यान रखना चाहिये।

सिंहरण : मानव कब दानव से दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर और पत्थर से भी कठोर – करुणा के लिये निरवकाश हृदयवाला हो जायेगा, नहीं जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिये सोच

क्यों, अनागत भविष्य के लिये भय क्यों और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा; फिर चिन्ता किस बात की ?

अलका : मालव, तुम्हारे देश के लिये तुम्हारा जीवन अमूल्य है, और वही यहाँ आपत्ति में है।

सिंहरण: राजकुमारी, इस अनुकम्पा के लिये कृतज्ञ हुआ। परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गान्धार भी है। यही क्या, समग्र आर्य्यावर्त्त है, इसलिए मैं –

अलका : (आश्चर्य से) क्या कहते हो ?

सिंहरण: गान्धार आर्य्यावर्त्त से भिन्न नहीं है, इसीलिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।

अलका : (नि:श्वास लेकर) इसका मैं अनुभव कर रही हूँ। परन्तु जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालव वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्रता है और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्य्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है; तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिए। मैं भी आर्य्यावर्त्त की बालिका हूँ – तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तुम शीघ्र गान्धार छोड़ दो। मैं आम्भीक को शक्तिभर पतन से रोकूँगी; परन्तु उनके न मानने पर तुम्हारी आवश्यकता होगी। जाओ वीर !

सिंहरण: अच्छा राजकुमारी, तुम्हारे स्नेहानुरोध से मैं जाने के लिये बाध्य हो रहा हूँ ! शीघ्र ही चला आऊँगा देवि ! किन्तु यदि किसी प्रकार सिन्धु की प्रखर धारा को यवन-सेना न पार कर सकती .....

अलका : मैं चेष्टा करूँगी वीर, तुम्हारा नाम ?

सिंहरण: मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण।

अलका : अच्छा, फिर कभी –

(परस्पर देखते हुए प्रस्थान)

* * *

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(उद्भांड में सिन्धु-तट पर ग्रीक-शिविर के पास वृक्ष के नीचे कार्नेलिया)

कार्नेलिया : सिन्धु का यह मनोहर तट जैसे मेरी आँखों के सामने एक नया चित्रपट उपस्थित कर रहा है। इस वातावरण से धीरे-धीरे उठती हुई प्रशान्त स्निग्धता जैसे हृदय में घुस रही है। लम्बी यात्रा करके जैसे मैं वहीं पहुँच गयी हूँ, जहाँ के लिये चली थी। यह कितना निसर्ग सुन्दर है – कितना रमणीय है ! हाँ, आज वह भारतीय संगीत का पाठ – देखूँ, भूल तो नहीं गयी ?

(गाती है)

अरुण यह मधुमय देश हमारा !
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा।
हेम-कुम्भ ले उषा सवेरे, भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब जग कर रजनी भर तारा।
अरुण यह मधुमय देश हमारा !

फिलिप्स : (प्रवेश करके) कैसा मधुर गीत है ! कार्नेलिया, तुमने तो भारतीय संगीत पर पूरा अधिकार कर लिया है, चाहे हम लोगों को भारत पर अधिकार करने में अभी विलम्ब हो।

कार्नेलिया : फिलिप्स ! यह तुम हो ! आज दारा की कन्या वाल्हीक जायेगी ?

फिलिप्स : दारा की कन्या ! नहीं कुमारी, साम्राज्ञी कहो।

कार्नेलिया : असम्भव है फिलिप्स ! ग्रीक लोग केवल देशों को विजय करके समझ लेते हैं कि लोगों के हृदय पर भी अधिकार कर लिया। वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका साम्राज्ञी कहने

पर तिलमिला जाती है। उसे यह विश्वास है कि वह एक महान् साम्राज्य की लूट में मिली हुई दासी है – प्रणय-परिणीता पत्नी नहीं।

फिलिप्स : कुमारी ! प्रणय के सम्मुख क्या साम्राज्य तुच्छ है ?

कार्नेलिया : यदि प्रणय हो !

फिलिप्स : प्रणय तो मेरा हृदय पहचानता है।

कार्नेलिया : (हँसकर) ओहो ! यह तो बड़ी विचित्र बात है।

फिलिप्स : कुमारी, क्या तुम मेरे प्रेम की हँसी उड़ाती हो ?

कार्नेलिया : नहीं सेनापति ! तुम्हारा उत्कृष्ट प्रेम बड़ा भयानक होगा, उससे तो डरना चाहिए।

फिलिप्स : (गम्भीर होकर) मैं पूछने आया हूँ कि आगामी युद्धों से दूर रहने के लिये शिविर की सब स्त्रियाँ स्कन्धावार में साम्राज्ञी के साथ जा रही हैं, क्या तुम भी चलोगी ?

कार्नेलिया : नहीं, सम्भवतः पिताजी को यहीं रहना होगा, इसलिए मेरे जाने की आवश्यकता नहीं।

फिलिप्स : (कुछ सोचकर) कुमारी ! न जाने फिर कब दर्शन हों, इसलिए एक बार इन कोमल करों को चूमने की आज्ञा दो।

कार्नेलिया : तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स !

फिलिप्स : प्राण देकर भी नहीं कुमारी ? परन्तु प्रेम अन्धा है।

कार्नेलिया : तुम अपने अन्धेपन से दूसरे को ठुकराने का लाभ नहीं उठा सकते फिलिप्स !

फिलिप्स : (इधर-उधर देखकर) यह नहीं हो सकता –

(कार्नेलिया का हाथ पकड़ना चाहता है ; वह चिल्लाती है – रक्षा करो ! रक्षा करो ! – चन्द्रगुप्त प्रवेश करके फिलिप्स की गर्दन पकड़कर दबाता है ; वह गिरकर क्षमा माँगता है ; चन्द्रगुप्त छोड़ देता है।)

कार्नेलिया : धन्यवाद आर्य्यवीर !

फिलिप्स : (लज्जित होकर) कुमारी, प्रार्थना करता हूँ कि इस घटना को भूल जाओ – क्षमा करो।

कार्नेलिया : क्षमा तो कर दूँगी – परन्तु भूल नहीं सकती फिलिप्स ! तुम अभी चले जाओ।

(फिलिप्स नतमस्तक हो जाता है)

चन्द्रगुप्त : चलिये, आपको शिविर के भीतर पहुँचा दूँ।

कार्नेलिया : पिताजी कहाँ हैं ? उनसे यह बात कह देनी होगी, यह घटना ... नहीं, तुम्हीं कह देना।

चन्द्रगुप्त : ओह ! वे मुझे बुला गये हैं, मैं जाता हूँ, उनसे कह दूँगा।

कार्नेलिया : आप चलिये ; मैं आती हूँ।

(चन्द्रगुप्त का प्रस्थान)

कार्नेलिया : एक घटना हो गयी, फिलिप्स ने विनती की उसे भूल जाने की, किन्तु उस घटना से और भी किसी का सम्बन्ध है, उसे कैसे भूल जाऊँ ! उन दोनों में शृंगार और रौद्र का संगम है, वह भी आह – कितना आकर्षण है – कितना तरंग-संकुल है ! इसी चन्द्रगुप्त के लिये न ! उस साधु ने भविष्यवाणी की है – भारत-समाट् होने की ! उसमें कितनी विनयशील वीरता है !

(प्रस्थान ; कुछ सैनिकों के साथ सिकन्दर का प्रवेश)

सिकन्दर : विजय करने की इच्छा क्लान्ति से मिटती जा रही है। हम तो इतने बड़े आक्रमण के समारम्भ में लगे हैं और यह देश जैसे सोया हुआ है, लड़ना जैसे इनके जीवन का उद्वेगजनक अंश नहीं। अपने ध्यान में दार्शनिक के सदृश निमग्न हैं ; सुनते हैं – पौरव ने केवल झेलम के पास कुछ सेना प्रतिरोध करने के लिये या केवल देखने के लिये रख छोड़ी है। हम लोग जब पहुँच जायेंगे तब वे लड़ लेंगे !

एनिसाक्रीटीज : मुझे तो ये लोग आलसी मालूम पड़ते हैं।

सिकन्दर : नहीं-नहीं, यहाँ के दार्शनिक की परीक्षा तो तुम कर चुके – दाण्ड्यायन को देखा न ! थोड़ा ठहरो, यहाँ के वीरों का भी परिचय मिल जायेगा। यह अद्भुत देश है।

एनिसाक्रीटीज : परन्तु आम्भीक तो अपनी प्रतिज्ञा का सच्चा निकला – प्रबन्ध तो उसने अच्छा कर रखा है।

सिकन्दर : लोभी है – सुना है कि उसकी एक बहन चिढ़कर संन्यासिनी हो गयी है।

एनिसाक्रीटीज : मुझे विश्वास नहीं होता, इसमें कोई रहस्य होगा ! पर एक बात कहूँगा, ऐसे शैल-पथ में साम्राज्य की समस्या हल करना कहाँ तक ठीक है ? क्यों न शिविर में ही चला जाये ?

सिकन्दर : एनिसाक्रीटीज, फिर तो पर्सिपोलिस का राजमहल छोड़ने की आवश्यकता न थी, यहाँ एकान्त में मुझे कुछ ऐसी बातों पर विचार करना है, जिन पर भारत-अभियान का भविष्य निर्भर है। मुझे उस नंगे ब्राह्मण की बातों से बड़ी आशंका हो रही है, भविष्यवाणियाँ प्राय: सत्य होती हैं।

(एक ओर से फिलिप्स, आम्भीक – दूसरी ओर से सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

सिकन्दर : कहो फिलिप्स ! तुम्हें क्या कहना है ?

फिलिप्स : आम्भीक से पूछ लिया जाय।

आम्भीक : यहाँ एक षड्यन्त्र चल रहा है।

फिलिप्स : और उसके सहायक हैं सिल्यूकस।

सिल्यूकस : (क्रोध और आश्चर्य से) इतनी नीचता ! अभी उस लज्जाजनक अपराध को प्रकट करना बाकी ही रहा – उलटा अभियोग ! प्रमाणित करना होगा फिलिप्स ! नहीं तो खड्ग इसका न्याय करेगा।

सिकन्दर : उत्तेजित न हो सिल्यूकस !

फिलिप्स : तलवार तो कभी का न्याय कर देती, परन्तु देवपुत्र का भी जान लेना आवश्यक था। नहीं तो ऐसे निर्लज्ज विद्रोही की हत्या करना – पाप नहीं, पुण्य है।

(सिल्यूकस तलवार खींचता है)

सिकन्दर : तलवार खींचने से अच्छा होता कि तुम अभियोग को निर्मूल प्रमाणित करने की चेष्टा करते ! बताओ, तुमने चन्द्रगुप्त के लिये अब क्या सोचा ?

सिल्यूकस : चन्द्रगुप्त ने अभी-अभी कार्नेलिया को इस नीच फिलिप्स के हाथों अपमानित होने से बचाया है और मैं स्वयं यह अभियोग आपके सामने उपस्थित करने वाला था।

सिकन्दर : परन्तु साहस नहीं हुआ, क्यों सिल्यूकस !

फिलिप्स : कैसे साहस होता – इनकी कन्या दाण्ड्यायन के आश्रम पर भारतीय दर्शन पढ़ने जाती है, भारतीय संगीत सीखती है, वहीं पर विद्रोहकारिणी अलका भी आती है। और चन्द्रगुप्त के लिये यह जनरव फैलाया गया है कि यही भारत का भावी सम्राट् होगा।

सिल्यूकस : रोक, अपनी अबाध गति से चलने वाली जीभ को रोक !

सिकन्दर : ठहरो सिल्यूकस ! तुम अपने को विचाराधीन समझो। हाँ, तो चन्द्रगुप्त ! मुझे तुमसे कुछ पूछना है।

चन्द्रगुप्त : क्या ?

सिकन्दर : सुना है कि मगध का वर्तमान शासक एक नीच-जन्मा जारज सन्तान है। उसकी प्रजा असन्तुष्ट है और तुम उस राज्य को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहे हो ?

चन्द्रगुप्त : हस्तगत नहीं – उसका शासन बड़ा क्रूर हो गया है – मगध का उद्धार करना चाहता हूँ।

सिकन्दर : और उस ब्राह्मण के कहने पर अपने सम्राट् होने का तुम्हें विश्वास हो गया होगा, जो परिस्थिति को देखते हुए असम्भव भी नहीं जान पड़ता !

चन्द्रगुप्त : असम्भव क्यों नहीं ?

सिकन्दर : हमारी सेना इसमें सहायता करेगी, फिर भी असम्भव है ?

चन्द्रगुप्त : मुझे आप से सहायता नहीं लेनी है।

सिकन्दर : (क्रोध से) फिर इतने दिनों तक ग्रीक-शिविर में रहने का तुम्हारा उद्देश्य ?

चन्द्रगुप्त : एक सादर निमन्त्रण – और, सिल्यूकस से उपकृत होने के कारण उनके अनुरोध की रक्षा ! परन्तु मैं – यवनों को अपना शासक बनने को आमन्त्रित करने नहीं आया हूँ।

सिकन्दर : परन्तु इन्हीं यवनों के द्वारा भारत – जो आज तक कभी भी आक्रान्त नहीं हुआ है, विजित किया जायेगा।

चन्द्रगुप्त : यह भविष्य के गर्भ में है उसके लिये अभी से इतनी उछल-कूद मचाने की आवश्यकता नहीं।

सिकन्दर : अबोध युवक, तू गुप्तचर है !

चन्द्रगुप्त : नहीं – कदापि नहीं, अवश्य ही यहाँ रहकर यवन-रणनीति से मैं कुछ परिचित हो गया हूँ। मुझे लोभ से पराभूत गान्धार-राज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिये, मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु यवन-लुटेरों की सहायता से नहीं।

सिकन्दर : तुमको अपनी विपत्तियों से डर नहीं – ग्रीक लुटेरे हैं ?

चन्द्रगुप्त : क्या यह झूठ है ? लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर-सेना कहना, रण-कला का उपहास करना है।

सिकन्दर : (आश्चर्य और क्रोध से) सिल्यूकस !

चन्द्रगुप्त : सिल्यूकस नहीं, चन्द्रगुप्त से कहने की बात चन्द्रगुप्त से कहनी चाहिये।

आम्भीक : शिष्टता से बातें करो।

चन्द्रगुप्त : स्वच्छ हृदय – भीरु कायरों की-सी वंचक-शिष्टता नहीं जानता। अनार्य्य ! देशद्रोही ! आम्भीक ! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।

सिकन्दर : बन्दी कर लो इसे।

(आम्भीक, फिलिप्स, एनिसाक्रीटीज टूट पड़ते हैं, चन्द्रगुप्त असाधारण वीरता से तीनों को घायल करता हुआ निकल जाता है।)

सिकन्दर : सिल्यूकस !

सिल्यूकस : सम्राट् !

सिकन्दर : यह क्या ?

सिल्यूकस : आपका अविवेक – चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है, यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है सम्राट् ! हम लोग जिस काम से आये हैं – उसे करना चाहिए। फिलिप्स को अन्तःपुर की महिलाओं के साथ वाल्हीक जाने दीजिए।

सिकन्दर : (सोचकर) अच्छा जाओ। (प्रस्थान)

* * *

चतुर्थ दृश्य

(मालव में सिंहरण के उद्यान का एक अंश)

मालविका : (प्रवेश करके) फूल हँसते हुए आते हैं, मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी को भिगोकर चले जाते हैं ! एक स्निग्ध समीर का झोंका आता है, नि:श्वास फेंककर चला जाता है। क्या पृथ्वीतल रोने के लिये ही है ? नहीं, सबके लिये एक ही नियम तो नहीं ! कोई रोने के लिये है तो कोई हँसने के लिये – (विचारती हुई) आजकल तो छुट्टी-सी है, परन्तु विदेशियों का एक विचित्र-सा दल यहाँ ठहरा है, उनमें से एक को तो देखते ही डर लगता है। लो देखो – वह युवक आ गया !

(सिर झुकाकर फूल सँवारने लगती है ; ऐन्द्रजालिक के वेश में चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त : मालविका !

मालविका : क्या आज्ञा है !

चन्द्रगुप्त : तुम्हारे नागकेशर की क्यारी कैसी है !

मालविका : हरी-भरी।

चन्द्रगुप्त : आज कुछ खेल भी होगा – देखोगी !

मालविका : खेल तो नित्य देखती हूँ। न जाने कहाँ से लोग आते हैं और कुछ-न-कुछ अभिनय करते हुए चले जाते हैं। इसी उद्यान के कोने से बैठी हुई सब देखा करती हूँ।

चन्द्रगुप्त : मालविका, तुमको कुछ गाना आता है ?

मालविका : आता तो है, परन्तु .....

चन्द्रगुप्त : परन्तु क्या ?

मालविका : युद्धकाल है – देश में रण-चर्चा छिड़ी है। आजकल मालव-स्थान में कोई गाता-बजाता नहीं।

चन्द्रगुप्त : रणभेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूँ तो हानि न होगी – मालविका ! न जाने क्यों आज ऐसी कामना जाग पड़ी है।

मालविका : अच्छा। सुनिए –

(अचानक चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य : छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है मौर्य्य !

चन्द्रगुप्त : नहीं गुरुदेव ! मैं आज ही विपाशा के तट से आया हूँ, यवन-शिविर भी घूमकर देख आया हूँ।

चाणक्य : क्या देखा ?

चन्द्रगुप्त : समस्त यवन-सेना शिथिल हो गयी है। मगध का इन्द्रजाली जानकर मुझसे यवन-सैनिकों ने वहाँ की सेना का हाल पूछा। मैंने कहा, पंचनद के सैनिकों से भी दुर्धर्ष कई लक्ष रण-कुशल योद्धा शतद्रु-तट पर तुम लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं । यह सुनकर कि नन्द के पास कई लाख सेना है, उन लोगों में आतंक छा गया और एक प्रकार का विद्रोह फैल गया।

चाणक्य : हाँ ! तब क्या हुआ – केलिस्थनीज़ के अनुयायियों ने क्या किया ?

चन्द्रगुप्त : उनकी उत्तेजना से सैनिकों ने विपाशा को पार करना अस्वीकार कर दिया और यवन-देश लौट चलने के लिये आग्रह करने लगे। सिकन्दर के बहुत अनुरोध करने पर भी वे युद्ध के लिये सहमत नहीं हुए। इसलिए रावी के जलमार्ग से लौटने का निश्चय हुआ है। अब उनकी इच्छा युद्ध की नहीं है।

चाणक्य : और क्षुद्रकों का क्या समाचार है ?

चन्द्रगुप्त : वे भी प्रस्तुत हैं। मेरी इच्छा है कि इस जगद्विजेता का ढोंग करने वाले को एक पाठ पराजय का भी पढ़ा दिया जाये। परन्तु, इस समय यहाँ सिंहरण का होना अत्यन्त आवश्यक है।

चाणक्य : अच्छा, देखा जायेगा। सम्भवतः – स्कन्धावार में मालवों की युद्ध-परिषद् होगी। अत्यन्त सावधानी से काम करना होगा। मालवों को मिलाने का पूरा प्रयत्न तो हमने कर लिया है।

चन्द्रगुप्त : चलिये, मैं, अभी आया !

(चाणक्य का प्रस्थान)

मालविका : यह खेल तो बड़ा भयानक होगा मागध ?

चन्द्रगुप्त : कुछ चिन्ता नहीं, अभी कल्याणी नहीं आयी ?

(एक सैनिक का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त : क्या है ?

सैनिक : सेनापति ! मागध-सेना के लिये क्या आज्ञा है ?

चन्द्रगुप्त : विपाशा और शतद्रु के बीच जहाँ अत्यन्त संकीर्ण भू-भाग है, वहीं अपनी सेना रखो। स्मरण रखना कि विपाशा पार करने पर मगध का साम्राज्य ध्वस्त करना यवनों के लिये बड़ा साधारण काम हो जायेगा। सिकन्दर की सेना के सामने इतना विराट् प्रदर्शन होना चाहिए कि वह भयभीत हो।

सैनिक : अच्छा, राजकुमारी ने पूछा है कि आप कब तक आवेंगे ? उनकी इच्छा मालव में ठहरने की नहीं है।

चन्द्रगुप्त : राजकुमारी से मेरा प्रणाम कहना और कह देना कि मैं सेनापति का पुत्र हूँ, युद्ध ही हमारी आजीविका है। क्षुद्रकों की सेना का मैं सेनापति होने के लिये आमन्त्रित किया गया हूँ। इसलिए मैं यहाँ रहकर भी मगध की अच्छी सेवा कर सकूँगा।

सैनिक : जैसी आज्ञा ! (जाता है।)

चन्द्रगुप्त : (कुछ सोचकर) सैनिक !

(सैनिक लौट आता है)

सैनिक : क्या आज्ञा है ?

चन्द्रगुप्त : राजकुमारी से कह देना कि मगध जाने की उत्कट इच्छा होने पर भी वे सेना साथ न ले जायें।

सैनिक : इसका उत्तर भी लेकर आना होगा ?

चन्द्रगुप्त : नहीं।

(सैनिक का प्रस्थान)

मालविका : मालव में बहुत-सी बातें मेरे देश से विपरीत हैं। इनकी युद्ध-पिपासा बलवती है – फिर युद्ध !

चन्द्रगुप्त : तो क्या तुम इस देश की नहीं हो ?

मालविका : नहीं, मैं सिन्धु की रहने वाली हूँ, आर्य्य ! वहाँ युद्ध-विग्रह नहीं, न्यायालयों की आवश्यकता नहीं। प्रचुर स्वर्ण के रहते भी उसका उपयोग नहीं। इसलिए अर्थमूलक विवाद कभी उठते ही नहीं। मनुष्य के प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना – मेरा सिन्धुदेश है।

चन्द्रगुप्त : तो यहाँ कैसे चली आयी हो ?

मालविका : मेरी इच्छा हुई कि और देशों को भी देखूँ। तक्षशिला में राजकुमारी अलका से कुछ ऐसा स्नेह हुआ कि वहीं रहने लगी। उन्होंने मुझे घायल सिंहरण के साथ यहाँ भेज दिया। कुमार सिंहरण बड़े सहृदय हैं। परन्तु मागध, तुमको देखकर तो मैं चकित हो जाती हूँ। कभी इन्द्रजाली, कभी कुछ ! भला इतना सुन्दर रूप – तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है ?

चन्द्रगुप्त : शुभे, मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ। तुम इन बातों को पूछकर क्या करोगी !

(प्रस्थान)

मालविका : स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है। परन्तु, बिछड़ने का भय भी होता है। अद्भुत युवक है। देखूँ कुमार सिंहरण कब आते हैं।

* * *

तृतीय अंक

द्वितीय दृश्य

(रावी-तट के उत्सव-शिविर का एक पथ ; पर्वतेश्वर अकेले टहलते हुए)

पर्वतेश्वर : आह ! कैसा अपमान ! जिस पर्वतेश्वर ने उत्तरापथ में अनेक प्रबल शत्रुओं के रहते भी विरोधों को कुचल कर गर्व से सिर ऊँचा कर रखा था, जिसने दुर्दान्त सिकन्दर के सामने

मरण को तुच्छ समझते हुए, वक्ष ऊँचा करके भाग्य से हँसी-ठट्ठा किया था, उसी का यह तिरस्कार – सो भी एक स्त्री के द्वारा ! और सिकन्दर के संकेत से ! प्रतिशोध – रक्त-पिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोच रही है । मरूँ या मार डालूँ ! मारना तो असम्भव है सिंहरण और अलका, वर-वधू वेश में हैं, मालवों के चुने हुए वीरों से वे घिरे हैं । सिकन्दर उनकी प्रशंसा और आदर में लगा है। इस समय सिंहरण पर हाथ उठाना असफलता के पैरों तले गिरना है। तो फिर जीकर क्या करूँगा ?

(छुरा निकाल कर आत्महत्या करना चाहता है ; चाणक्य आकर हाथ पकड़ लेता है।)

पर्वतेश्वर : कौन ?

चाणक्य : ब्राह्मण चाणक्य।

पर्वतेश्वर : मेरे इस अन्तिम समय में भी क्या कुछ दान चाहते हो ?

चाणक्य : हाँ।

पर्वतेश्वर : मैंने अपना राज्य दिया – अब हटो।

चाणक्य : यह तो तुमने दे दिया, परन्तु मैंने तुमसे माँगा न था, पौरव !

पर्वतेश्वर : फिर क्या चाहते हो ?

चाणक्य : एक प्रश्न का उत्तर।

पर्वतेश्वर : तुम अपनी बात मुझे स्मरण कराने आये हो ? तो ठीक है। ब्राह्मण ! तुम्हारी बात सच हुई। यवनों ने आर्य्यावर्त्त को पददलित कर लिया। मैं गर्व में भूला था, तुम्हारी बात न मानी। अब उसी का प्रायश्चित करने जाता हूँ – छोड़ दो।

चाणक्य : पौरव ! शान्त हो। मैं एक दूसरी बात पूछता हूँ। वृषल चन्द्रगुप्त क्षत्रिय है कि नहीं, अथवा उसे मूर्धाभिषिक्त करने में ब्राह्मण से भूल हुई ?

पर्वतेश्वर : आह – ब्राह्मण ! व्यंग्य न करो। चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने का प्रमाण यही विराट् आयोजन है। आर्य्य चाणक्य ! मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को न कर सका, वह कार्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया। आर्य्यावर्त्त से यवनों को निकल जाने का संकेत उसके प्रचुर बल का द्योतक है। मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त, आर्य्यावर्त्त का एकच्छत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है। अब मुझे छोड़ दो .....

चाणक्य : पौरव ! ब्राह्मण राज्य करना नहीं जानता, करना भी नहीं चाहता, हाँ – वह राजाओं का नियमन करना जानता है; राजा बनाना जानता है। इसलिए तुम्हें अभी राज्य करना होगा, और करना होगा वह कार्य जिसमें भारतीयों का गौरव हो और क्षात्र-धर्म का पालन हो।

पर्वतेश्वर : (छुरा फेंककर) वह क्या काम है ?

चाणक्य : जिन यवनों ने तुमको लज्जित और अपमानित किया है, उनसे प्रतिशोध !

पर्वतेश्वर : असम्भव है !

पर्वतेश्वर : (हँसकर) मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली-भाँति परिचित रहता है। परन्तु उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिए। असम्भव कहकर – किसी काम को करने से पहले – कर्मक्षेत्र में काँपकर लड़खड़ाओ मत पौरव ! तुम क्या हो – विचार कर देखो तो ! सिकन्दर ने जो क्षत्रप नियुक्त किया है – जिन सन्धियों को वह प्रगतिशील रखना चाहता है, वे सब क्या हैं ? अपनी लूट-पाट को वह साम्राज्य के रूप में देखना चाहता है ! चाणक्य जीते-जी यह नहीं होने देगा ! तुम राज्य करो !

पर्वतेश्वर : परन्तु आर्य्य, मैंने राज्य दान कर दिया है।

चाणक्य : पौरव ! तामस त्याग से सात्त्विक ग्रहण उत्तम है। वह दान था, उसमें कोई सत्य नहीं। तुम उसे ग्रहण करो।

पर्वतेश्वर : तो क्या आज्ञा है ?

चाणक्य : पीछे बतलाऊँगा। इस समय मुझे केवल यही कहना है कि सिंहरण को अपना भाई समझो और अलका को बहन।

(वृद्ध गान्धार-राज का सहसा प्रवेश)

वृद्ध : अलका कहाँ है, अलका ?

पर्वतेश्वर : कौन हो तुम वृद्ध ?

चाणक्य : मैं इन्हें जानता हूँ – वृद्ध गान्धार-नरेश !

पर्वतेश्वर : आर्य्य, मैं पर्वतेश्वर प्रणाम करता हूँ।

वृद्ध : मैं प्रणाम करने योग्य नहीं – पौरव ! मेरी सन्तान से देश का बड़ा अनिष्ट हुआ है। आम्भीक ने लज्जा की यवनिका में मुझे छिपा दिया है। इस देशद्रोही के प्राण केवल अलका को देखने के लिये बचे हैं, उसी से कुछ आशा थी ! जिसको मोल लेने में लोभ असमर्थ था, उसी अलका को देखना चाहता हूँ और प्राण दे देना चाहता हूँ। (हाँफता है)

चाणक्य : क्षत्रिय ! तुम्हारे पाप और पुण्य दोनों जीवित हैं। स्वस्तिमती अलका आज सौभाग्यवती होने जा रही हैं, चलो कन्या-सम्प्रदान करके प्रसन्न हो जाओ।

(चाणक्य वृद्ध गान्धार-नरेश को लिवा जाता है)

पर्वतेश्वर : जाऊँ – किधर जाऊँ – चाणक्य के पीछे ? (जाता है)

(कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त : कुमारी, आज मुझे बड़ी प्रसन्न्ता हुई !

कार्नेलिया : किस बात की ?

चन्द्रगुप्त : कि मैं विस्मृत नहीं हुआ।

कार्नेलिया : स्मृति कोई अच्छी वस्तु है क्या !

चन्द्रगुप्त : स्मृति जीवन का पुरस्कार है सुन्दरि !

कार्नेलिया : परन्तु मैं कितने दूर-देश की हूँ। स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर उद्दण्ड हो जाती हैं। अतीत की कारा में बन्दिनी-स्मृतियाँ अपने करुण नि:श्वास की शृंखलाओं को झनझनाकर सूचीभेद्य अन्धकार में सो जाती हैं।

चन्द्रगुप्त : ऐसा हो तो भूल जाओ शुभे! इस कद्रच्युत जलते हुए उल्कापिण्ड की कोई कक्षा नहीं। निर्वासित – अपमानित प्राणों की चिन्ता क्या ?

कार्नेलिया : नहीं चन्द्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल-कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक-बालिकायें, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमायें हैं। यह स्वप्नों का देश – यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि – भारत-भूमि क्या भुलायी जा सकती

है ? कदापि नहीं – अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।

चन्द्रगुप्त : शुभे, मैं यह सुनकर चकित हो गया हूँ।

कार्नेलिया : और मैं मर्माहत हो गयी हूँ। चन्द्रगुप्त, मुझे पूर्ण विश्वास था कि यहाँ के क्षत्रप पिताजी नियुक्त होंगे और मैं अलेग्जेंड्रिया में – समीप ही रहकर भारत को देख सकूँगी । परन्तु वैसा न हुआ, सम्राट् ने फिलिप्स को यहाँ का शासक नियुक्तकर दिया है।

(अकस्मात् फिलिप्स का प्रवेश)

फिलिप्स : तो बुरा क्या है कुमारी। सिल्यूकस के क्षत्रप न होने पर भी कार्नेलिया यहाँ की शासिका हो सकती है। फिलिप्स अनुचर होगा (चन्द्रगुप्त को देखकर) फिर वही भारतीय युवक !

चन्द्रगुप्त : सावधान यवन ! हम लोग एक बार एक-दूसरे की परीक्षा ले चुके हैं ।

फिलिप्स : ऊँह ! तुमसे मेरा सम्बन्ध ही क्या है, परन्तु .....

कार्नेलिया : और मुझसे भी नहीं, फिलिप्स ! मैं चाहती हूँ कि तुम मुझसे न बोलो।

फिलिप्स : अच्छी बात है। किन्तु मैं चन्द्रगुप्त को भी तुमसे बातें करते हुए नहीं देख सकता। तुम्हारे प्रेम का .....

कार्नेलिया : चुप रहो, मैं कहती हूँ; चुप रहो।

फिलिप्स : (चन्द्रगुप्त से) मैं तुमसे द्वन्द्व-युद्ध करना चाहता हूँ।

चन्द्रगुप्त : जब इच्छा हो, मैं प्रस्तुत हूँ और सन्धि भंग करने के लिये तुम्हीं अग्रसर होंगे ; यह अच्छी बात होगी।

फिलिप्स : सन्धि राष्ट्र की है। यह मेरी व्यक्तिगत बात है। अच्छा, फिर कभी मैं तुम्हारा आह्वान करूँगा !

चन्द्रगुप्त : आधी रात, पिछले पहर, जब तुम्हारी इच्छा हो !

(फिलिप्स का प्रस्थान)

कार्नेलिया : सिकन्दर ने भारत से युद्ध किया है और मैंने भारत का अध्ययन किया है। मैं देखती हूँ कि यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही हैं। यह अरस्तू और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त तो उनके अस्त्र हैं।

चन्द्रगुप्त : मैं क्या कहूँ ; मैं एक निर्वासित –

कार्नेलिया : लोग चाहे जो कहें, मैं भली-भाँति जानती हूँ कि अभी तक चाणक्य की विजय है। पिताजी से मेरा इस विषय पर अच्छा विवाद होता है – वे अरस्तू के शिष्यों में हैं।

चन्द्रगुप्त : भविष्य के गर्भ में अभी बहुत-से रहस्य छिपे हैं।

कार्नेलिया : अच्छा तो मैं जाती हूँ और फिर एक बार अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। किन्तु मुझे विश्वास है कि मैं पुन: लौटकर आऊँगी ?

चन्द्रगुप्त : उस समय भी मुझे भूलने की चेष्टा करोगी ?

कार्नेलिया : नहीं, चन्द्रगुप्त ! विदा – यवन-बेड़ा आज ही जायेगा।

(दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हुए जाते हैं ; राक्षस और कल्याणी का प्रवेश।)

कल्याणी : ऐसा विराट् दृश्य तो मैंने नहीं देखा था अमात्य ! मगध को किस बात का गर्व है ?

राक्षस : गर्व है राजकुमारी ! और उसका गर्व सत्य है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त मगध की प्रजा हैं, जिन्होंने इतना बड़ा उलट-फेर किया है ?

(चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य : तो तुम इसे स्वीकार करते हो। अमात्य राक्षस ?

राक्षस : शत्रु की उचित प्रशंसा करना मनुष्य का धर्म है। तुमने अद्भुत कार्य किये, इसमें भी कोई सन्देह है ?

चाणक्य : अस्तु, अब तुम जा सकते हो। मगध तुम्हारा स्वागत करेगा।

राक्षस : राजकुमारी तो कल चली जायेंगी। पर, मैंने अभी तक निश्चय नहीं किया है।

चाणक्य : मेरा कार्य हो गया, राजकुमारी जा सकती हैं, परन्तु एक बात कहूँ ?

राक्षस : क्या ?

चाणक्य : यहाँ की कोई बात नन्द से न कहने की प्रतिज्ञा करनी होगी !

कल्याणी : मैं प्रतिश्रुत होती हूँ।

चाणक्य : राक्षस, मैं सुवासिनी से तुम्हारी भेंट भी करा देता, परन्तु वह मुझ पर विश्वास यहीं करती।

राक्षस : क्या वह भी यहीं है ?

चाणक्य : कहीं होगी, तुम्हारा प्रत्यय देखकर वह आ सकती है।

राक्षस : यह लो मेरी अंगुलीय मुद्रा । चाणक्य ! सुवासिनी को कारागार से मुक्त कराकर मुझसे भेंट करा दो।

चाणक्य : (मुद्रा लेकर) मैं चेष्टा करूँगा।

(प्रस्थान)

राक्षस : तो राजकुमारी, प्रणाम !

कल्याणी : तुमने अपना कर्त्तव्य भली-भाँति सोच लिया होगा। मैं जाती हूँ, और विश्वास दिलाती हूँ कि मुझसे तुम्हारा अनिष्टन होगा।

(दोनों का प्रस्थान)

तृतीय दृश्य

(रावी का तट ; सिकन्दर का बेड़ा प्रस्तुत है ; चाणक्य और पर्वतेश्वर)

चाणक्य : पौरव, देखो यह नृशंसता की बाढ़ आज उतर जायेगी। चाणक्य ने जो किया, वह भला था या बुरा, अब समझ में आवेगा।

पर्वतेश्वर : मैं मानता हूँ, यह आप ही का स्तुत्य कार्य है।

चाणक्य : और चन्द्रगुप्त के बाहु-बल का, पौरव ! आज फिर मैं उसी बात को दुहराना चाहता हूँ। अत्याचारी नन्द के हाथों से मगध का उद्धार करने के लिये चाणक्य ने तुम्हीं से पहले सहायता माँगी थी और अब तुम्हीं से लेगा भी – अब तो तुम्हें विश्वास होगा ?

पर्वतेश्वर : मैं प्रस्तुत हूँ, आर्य्य !

चाणक्य : मैं विश्वस्त हुआ। अच्छा, यवनों को आज विदा करना है।

(एक ओर से सिकन्दर, सिल्यूकस, कार्नेलिया, फिलिप्स इत्यादि का; और दूसरी ओर से चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, मालविका और आम्भीक इत्यादि का यवन और भारतीय रणवाद्यों के साथ प्रवेश।)

सिकन्दर : सेनापति चन्द्रगुप्त ! बधाई है !

चन्द्रगुप्त : किस बात की राजन् !

सिकन्दर : जिस समय तुम भारत के सम्राट् होंगे, उस समय मैं उपस्थित न रह सकूँगा, उसके लिये पहले से बधाई है। मुझे उस नग्न ब्राह्मण दाण्ड्यायन की बातों का पूर्ण विश्वास हो गया।

चन्द्रगुप्त : आप वीर हैं।

सिकन्दर : आर्य्य वीर ! मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज़ को। सम्भवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ।

सिल्यूकस : सम्राट ! यही आर्य्य चाणक्य हैं।

सिकन्दर : धन्य हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ। जिनसे खड्ग-परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिलाकर – मैत्री का हाथ मिलाकर जाना चाहता हूँ।

चाणक्य : हम लोग प्रस्तुत हैं सिकन्दर ! तुम वीर हो, भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते हैं। तुम्हारी जल-यात्रा मंगलमय हो। हम लोग युद्ध करना जानते हैं – द्वेष नहीं।

(सिकन्दर हँसता हुआ अनुचरों के साथ नौका पर आरोहण करता है; नाव चलती है।)

* * *

षष्ठ दृश्य

(कुसुमपुरका प्रान्त भाग ; चाणक्य, मालविका और अलका)

मालविका : सुवासिनी और राक्षस स्वतन्त्र हैं ! उनका परिणय शीघ्र ही होगा ! इधर मौर्य्य कारागार में, वररुचि अपदस्थ, नागरिक लोग नन्द की उच्छृंखलताओं से असन्तुष्ट हैं।

चाणक्य : ठीक है, समय हो चला है ! मालविका, तुम नर्त्तकी की बन सकती हो ?

मालविका : हाँ, मैं नृत्य-कला जानती हूँ।

चाणक्य : तो नन्द की रंगशाला में जाओ और लो यह मुद्रा तथा पत्र ; राक्षस का विवाह होने के पहले – ठीक एक घड़ी पहले – नन्द के हाथ में देना ! और पूछने पर बतला देना कि अमात्य राक्षस ने सुवासिनी को देने के लिये कहा था। परन्तु मुझसे भेंट न हो सकी, इसीलिए उन्हें लौटा देने को लायी हूँ !

मालविका : (स्वगत) क्या ? क्या असत्य बोलना होगा ! चन्द्रगुप्त के लिये सब करूँगी।
(प्रकट) अच्छा।

चाणक्य : मैंने सिंहरण को लिख दिया था कि चन्द्रगुप्त को शीघ्र यहाँ भेजो। तुम यवनों के सिर उठाने पर उन्हें शान्त करके आना, तब तक अलका मेरी रक्षा कर लेगी। मैं चाहता हूँ कि सब सेना वणिकों के रूप में धीरे-धीरे कुसुमपुर में इकट्ठी हो जाय। जिस दिन राक्षस का ब्याह होगा, उसी दिन विद्रोह होगा और उसी दिन चन्द्रगुप्त राजा होगा !

अलका : परन्तु फिलिप्स के द्वन्द्व-युद्ध से चन्द्रगुप्त को लौट तो आने दीजिए, क्या जाने क्या हो !

चाणक्य : क्या हो ! वही होकर रहेगा जिसे चाणक्य ने विचार करके ठीक कर लिया है। किन्तु अवसर पर एक क्षण का विलम्ब असफलता का प्रवर्त्तक हो जाता है।

(मालविका जाती है)

अलका : गुरुदेव, महानगरी कुसुमपुर का ध्वंस और नन्द-पराजय इस प्रकार सम्भव है ?

चाणक्य : अलके ! चाणक्य अपना कार्य, अपनी बुद्धि से साधित करेगा। तुम देखती-भर रहो और मैं जो बताऊँ – करती चलो। मालविका अभी बालिका है, उसकी रक्षा आवश्यक है। उसे देखो तो –

(अलका जाती है)

चाणक्य : वह सामने कुसुमपुर है जहाँ मेरे जीवन का प्रभात हुआ था। मेरे उस सरल हृदय में उत्कट इच्छा थी – कोई भी सुन्दर-मन मेरा साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता थी और उसके लिये मन में सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी। परन्तु संसार – कठोर संसार ने सिखा दिया है कि तुम्हें परखना होगा। समझदारी आने पर यौवन चला जाता है – जब तक माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते हैं। जिनसे मिलने के सम्भार की इतनी धूमधाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्तनहीं बनाये रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है। मैं – अविश्वास, कूट-चक्र और छलनाओं का कंकाल, कठोरताओं का केन्द्र ! आह ! तो इस विश्व में मेरा कोई सुहृद् नहीं है ! – मेरा संकल्प ! अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा मित्र है। और थी एक क्षीण रेखा – वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ? सुवासिनी न-न-न, वह कोई नहीं। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ – भयानक रमणीयता है। आज उस प्रतिज्ञा में जन्मभूमि के प्रति कर्त्तव्य का यौवन चमक रहा है। तृणशय्या पर आधे पेट खाकर सो रहने वाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण-मुकुट ! और सामने सफलता का स्मृति-सौध (आकाश की ओर देखकर) वह – इन लाल बादलों में दिग्दाह का धूम मिल रहा है ! भीषण रव से सब जैसे चाणक्य का नाम चिल्ला रहे हैं। (देखकर) हैं ! यह कौन भूमि-सन्धि तोड़कर सर्प के समान निकल रहा है ! छिपकर देखूँ।

(छिप जाता है ; एक दूह की मिट्टी गिरती है ; उसमें से शकटार वनमानुष के समान निकलता है)

शकटार : (चारों ओर देखकर आँखें बन्द कर लेता है – फिर खोलता हुआ) आँखें नहीं सह सकतीं, इन्हीं प्रकाश-किरणों के लिये तड़प रही थीं ! ओह, तीखी हैं ! तो क्या मैं जीवित हूँ ! कितने दिन – कितने महीने – कितने वर्ष हुए ! नहीं स्मरण है। अन्धकूप की प्रधानता सर्वोपरि थी। सात लड़के भूख से तड़प कर मरे ! कृतज्ञ हूँ – उस अन्धकार का – जिसने उन विवर्ण मुखों को न देखने दिया, केवल उनके दम तोड़ने का क्षीण शब्द सुन सका। फिर भी जीवित रहा – सत्तू और नमक पानी से मिलाकर – अपनी नसों से रक्त पीकर जीवित रहा ! प्रतिहिंसा के लिये ! पर अब शेष है – दम घुट रहा है। ओह –

(गिर पड़ता है ; चाणक्य पास आकर कपड़ा निचोड़ कर मुँह में जल डाल सचेत करता है।)

चाणक्य : आह ! तुम कोई दुखी मनुष्य हो ! घबराओ मत, मैं तुम्हारी सहायता के लिये प्रस्तुत हूँ।

शकटार : (ऊपर देखकर) तुम ! सहायता करोगे ! आश्चर्य ! मनुष्य, मनुष्य की सहायता करेगा ! वह उसे हिंस्रपशु के समान नोच न डालेगा। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह जोंक की तरह बिना कष्ट दिये रक्त चूसे। जिसमें कोई स्वार्थ न हो – ऐसी सहायता ! तुम भूखे भेड़िये !

चाणक्य : अभागे मनुष्य ! सबसे चौंककर अलग न उछल ! अविश्वास की चिनगारी पैरों के नीचे से हटा। तुझ जैसी दुखी बहुत-से पड़े हैं। यदि सहायता नहीं तो परस्पर का स्वार्थ ही सही।

शकटार : दु:ख ! दु:ख का नाम सुना होगा, या कल्पित आशंका से तुम उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होंगे। देखा है कभी – सात-सात गोद के लालों को भूख से तड़प कर मरते ? अन्धकार की घनी चादर में बरसों भू-गर्भ की जीवित समाधि में एक-दूसरे को अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते – देखा है – प्रतिहिंसा की स्मृति को ठोकरें मार-मार कर जगाते, और प्राण-विसर्जन करते – देखा है कभी यह कष्ट – उन सबों ने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी मैं पत्थर-सा जीवित रहा ! उनका आहार खा डाला – उन्हें मरने दिया ! जानते हो क्यों ? वे सुकुमार थे, वे सुख की गोद में पले थे, वे सहन नहीं कर सकते थे, अत: सब मर जाते। मैं बचा रहा प्रतिशोध के लिये ! दानवी प्रतिहिंसा के लिये ! ओह ! उस अत्याचारी नर-राक्षस की अँतड़ियों में से खींचकर एक बार रक्त का फुहारा छोड़ता – इस पृथ्वी को उसी से रँगा देखता।

चाणक्य : सावधान ! (शकटार को उठाता है)

शकटार : सावधान हों वे – जो दुर्बलों पर अत्याचार करते हैं ! पीड़ित पद-दलित, सब तरह लुटा हुआ ! जिसने पुत्रों की हड्डियों से सुरंग खोदी है, नखों से मिट्टी हटायी है; उसके लिये सावधान रहने की आवश्यकता नहीं। मेरी वेदना अपने अन्तिम अस्त्रों से सुसज्जित है।

चाणक्य : तो भी तुमको प्रतिशोध लेना है। हम लोग एक ही पथ के पथिक हैं। घबराओ मत। क्या तुम्हारा और कोई भी इस संसार में जीवित नहीं ?

शकटार : बची थी, पर न जाने कहाँ है। एक बालिका – अपनी माता की स्मृति – सुवासिनी। पर अब कहाँ है, कौन जाने ?

चाणक्य : क्या कहा – सुवासिनी !

शकटार : हाँ, सुवासिनी।

चाणक्य : और तुम शकटार हो ?

शकटार : (चाणक्य का गला पकड़कर) गला घोंट दूँगा – यदि फिर यह नाम तुमने लिया। मुझे नन्द से प्रतिशोध ले लेने दो, फिर चाहे डौंड़ी पीटना।

चाणक्य : (उसके हाथ हटाते हुए) वह सुवासिनी नन्द की रंगशाला में है। मुझे पहचानते हो ?

शकटार : नहीं तो – (देखता है)

चाणक्य : तुम्हारे प्रतिवेशी, सखा ब्राह्मण चणक का पुत्र विष्णुगुप्त । तुम्हारी दिलायी हुई जिसकी ब्रह्मवृत्ति छीन ली गयी, जो तुम्हारा सहकारी जान कर निर्वासित कर दिया गया, मैं उसी चणक का पुत्र चाणक्य हूँ, जिसकी शिखा पकड़कर राजसभा में खींची गयी, जो बन्दीगृह में मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था ! करोगे मुझ पर विश्वास ?

शकटार : (विचारता हुआ खड़ा हो जाता है) करूँगा, जो तुम कहोगे वही करूँगा। किसी तरह प्रतिशोध चाहिए।

चाणक्य : तो चलो मेरी झोंपड़ी में, इस सुरंग को घास-फूँस से ढँक दो।

(सुरंग ढँककर दोनों जाते हैं)

* * *

चतुर्थ अंक

पंचम दृश्य

(प्रभात में राजमन्दिर का एक प्रान्त)

चन्द्रगुप्त : (अकेले टहलता हुआ) चतुर सेवक के समान संसार को जगाकर अन्धकार हट गया। रजनी की निस्तब्धता काकली से चंचल हो उठी है। नीला आकाश स्वच्छ होने लगा है, या निद्राक्लान्त निशा, उषा की शुभ्र चादर ओढ़कर नींद की गोद में लेटने चली है। यह जागरण का अवसर है। जागरण का अर्थ है कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना ; और कर्मक्षेत्र क्या है ? जीवन-संग्राम ! किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली-सी है। तो फिर ..... मेरे पिता, मेरी माता, इनका तो सम्मान

आवश्यक था। वे चले गये, मैं देखता हूँ कि नागरिक तो क्या, मेरे आत्मीय भी आनन्द मनाने से वंचित किये गये। यह परतन्त्रता कब तक चलेगी ? प्रतिहार !

प्रतिहार : (प्रवेश करके) जय हो देव !

चन्द्रगुप्त : आर्य्य चाणक्य को शीघ्र लिवा लाओ !

(प्रतिहार का प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त : (टहलते हुए) प्रतिकार आवश्यक है।

(चाणक्य का प्रवेश)

चन्द्रगुप्त : आर्य्य, प्रणाम !

चाणक्य : कल्याण हो आयुष्मान्, आज तुम्हारा प्रणाम भारी-सा है !

चन्द्रगुप्त : मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।

चाणक्य : यह तो मैं पहले से समझता था। तो तुम अपने स्वागत के लिये लड़कों के सदृश रूठे हो ?

चन्द्रगुप्त : नहीं आर्य्य, मेरे माता-पिता – मैं जानना चाहता हूँ कि उन्हें किसने निर्वासित किया ?

चाणक्य : जान जाओगे तो उसका वध करोगे, क्यों ? (हँसता है)

चन्द्रगुप्त : हँसिये मत ! गुरुदेव ! आपकी मर्यादा रखनी चाहिए, यह मैं जानता हूँ। परन्तु वे मेरे माता-पिता थे, यह आपको भी जानना चाहिए।

चाणक्य : तभी तो मैंने उन्हें उपयुक्त अवसर दिया। अब उन्हें आवश्यकता थी शान्ति की, उन्होंने वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया है। इसमें खेद करने की कौन-सी बात है ?

चन्द्रगुप्त : यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे है ? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों रखना चाहते हैं।

चाणक्य : चन्द्रगुप्त ! मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था। आनन्द-समुद्र में शान्ति-द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण – मैं, चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र मेरे द्वीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्यश्यामला-कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद

कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी – ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोड़कर कहाँ आ गया। सौहार्द के स्थान पर कुचक्र; फूलों के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान में भय। ज्ञानामृत के परिवर्तन में कुमन्त्रणा। पतन और कहाँ तक हो सकता है ! ले लो मौर्य्य चन्द्रगुप्त ! अपना अधिकार – छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा। मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छायाचित्र, काल्पनिक महत्त्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसन्धान करता दौड़ रहा हूँ। शान्ति खो गयी, स्वरूप विस्मृत हो गया ! जान गया, मैं कहाँ और कितने नीचे हूँ !

(प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त : जाने दो। (दीर्घ नि:श्वास लेकर) तो क्या। मैं असमर्थ हूँ ? ऊँह, सब हो जायेगा।

सिंहरण : (प्रवेश करके) सम्राट् की जय हो ! कुछ विद्रोही और षड्यन्त्रकारी पकड़े गये हैं। एक बड़ी दुखद घटना भी हो गयी है।

चन्द्रगुप्त : (चौंककर) क्या ?

सिंहरण : मालविका की हत्या .... (गद्गद् कण्ठ से) आपका परिच्छद पहनकर वह आप ही की शय्या पर लेटी थी।

चन्द्रगुप्त : तो क्या, उसने इसीलिए मेरे शयन का प्रबन्ध दूसरे प्रकोष्ठ में किया ! आह ! मालविका !

सिंहरण : आर्य्य चाणक्य की सूचना पाकर नायक पूरे गुल्म के साथ राजमन्दिर की रक्षा के लिये प्रस्तुत था। एक छोटा-सा युद्ध होकर वे हत्यारे पकड़े गये। परन्तु उनका नेता राक्षस निकल भागा।

चन्द्रगुप्त : क्या ! राक्षस उनका नेता था ?

सिंहरण : हाँ सम्राट् ! गुरुदेव बुलाये जायें !

चन्द्रगुप्त : वही तो नहीं हो सकता, वे चले गये। कदाचित् न लौटेंगे।

सिंहरण : ऐसा क्यों ? क्या आपने कुछ कह दिया ?

चन्द्रगुप्त : हाँ सिंहरण ! मैंने अपने माता-पिता के चले जाने का कारण पूछा था !

सिंहरण : (निःश्वास लेकर) तो नियति कुछ अदृष्ट का सृजन कर रही है ! सम्राट्, मैं गुरुदेव को खोजने जाता हूँ !

चन्द्रगुप्त : (विरक्ति से) जाओ, ठीक है – अधिक हर्ष ; अधिक उन्नति के बाद ही तो अधिक दु:ख और पतन की बारी आती है –

(सिंहरण का प्रस्थान)

चन्द्रगुप्त : पिता गये, माता गयी, गुरुदेव गये, कन्धे से कन्धा मिलाकर प्राण देने वाला चिर-सहचर सिंहरण गया ! तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा ; और रहेगा ; परन्तु मालविका ! आह, वह स्वर्गीय कुसुम !

(चिन्तित भाव से प्रस्थान)

षष्ठ दृश्य

(सिन्धु तट पर पर्णकुटीर में चाणक्य और कात्यायन)

चाणक्य : कात्यायन, सो नहीं हो सकता। मैं अब मन्त्रित्व नहीं ग्रहण करने का। तुम यदि किसी प्रकार मेरा रहस्य खोल दोगे, तो मगध का अनिष्ट करोगे।

कात्यायन : तब मैं क्या करूँ ? चाणक्य, मुझे तो अब इस राज-काज में पड़ना अच्छा नहीं लगता।

चाणक्य : जब तक गान्धार का उपद्रव है, तब तक तुम्हें बाध्य होकर करना पड़ेगा। बताओ, नया समाचार क्या है ?

कात्यायन : राक्षस सिल्यूकस की कन्या को पढ़ाने के लिये वहीं रहता है और यह सारा कुचक्र उसी का है ! वह इन दिनों वाल्हीक की ओर गया है। मैं अपना वार्त्तिक पूरा कर चुका – इसीलिए मगध से अवकाश लेकर आया था ! चाणक्य, अब मैं मगध जाना चाहता हूँ। यवन-शिविर में अब मेरा जाना असम्भव है।

चाणक्य : जितना शीघ्र हो सके; मगध पहुँचो। मैं सिंहरण को ठीक रखता हूँ। तुम चन्द्रगुप्त को भेजो। सावधान, उसे मालूम न हो कि मैं यहाँ हूँ ? अवसर पर मैं स्वयं उपस्थित हो जाऊँगा। देखो, शकटार और तुम्हारे भरोसे मगध रहा ! कात्यायन, यदि सुवासिनी को भेजते तो कार्य में आशातीत सफलता होती। समझे ?

कात्यायन : (हँसकर) यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि तुम ... सुवासिनी – अच्छा ..... विष्णुगुप्त ! गार्हस्थ्य-जीवन कितना सुन्दर है !

चाणक्य : मूर्ख हो, अब हम-तुम साथ ब्याह करेंगे।

कात्यायन : मैं ? मुझे नहीं – मेरी गृहिणी तो है !

चाणक्य : (हँसकर) एक ब्याह और सही। अच्छा बताओ, काम कहाँ तक हुआ ?

कात्यायन : (पत्र देता हुआ) हाँ यह लो, यवन-शिविर का विवरण है। परन्तु, विष्णुगुप्त, एक बात कहे बिना न रह सकूँगा। यह यवन-बाला सिर से पैर तक आर्य्य-संस्कृति में पगी है। उसका अनिष्ट !

चाणक्य : (हँसकर) कात्यायन, तुम सच्चे ब्राह्मण हो ! यह करुणा और सौहार्द का उद्रेक ऐसे ही हृदयों में होता है। परन्तु निष्ठुर-हृदयहीन मुझे तो केवल अपने हाथों खड़ा किये हुए एक साम्राज्य का दृश्य देख लेना है।

कात्यायन : फिर भी चाणक्य, उसका सरल मुख-मण्डल – उस लक्ष्मी का अमंगल !

चाणक्य : (हँसकर) तुम पागल तो नहीं हो ?

कात्यायन : तुम हँसो मत चाणक्य ! तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है ! प्रतिज्ञा करो कि उसका अनिष्ट न करूँगा। बोलो !

चाणक्य : कात्यायन, अलक्षेन्द्र कितने विकट परिश्रम से भारतवर्ष के बाहर किया गया – यह तुम भूल गये ? अभी है कितने दिनों की बात। अब इस सिल्यूकस को क्या हुआ जो चला आया ! तुम नहीं जानते कात्यायन, इसी सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त की रक्षा की थी, नियति अब उन्हीं दोनों को एक-दूसरे के विपक्ष में खड्ग खींचे हुए खड़ा कर रही है !

कात्यायन : कैसे आश्चर्य की बात है !

चाणक्य : परन्तु इससे क्या ! वह तो होकर रहेगा, जिसे मैंने स्थिर कर लिया है ! वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठती है। फिर मैं क्या करूँ !

कात्यायन : तुम निष्ठुर हो – यह हँसी !

चाणक्य : अच्छा, तुम सदय होकर एक बात कर सकोगे ? बोलो – चन्द्रगुप्त और उस यवन-बाला के परिणय में आचार्य बनोगे ?

कात्यायन : क्या कह रहे हो ? यह हँसी !

चाणक्य : यही है तुम्हारी दया की परीक्षा – देखूँ तुम क्या करते हो । क्या इसमें यवन-बाला का अमंगल है ?

कात्यायन : (सोचकर) मंगल है ; मैं प्रस्तुत हूँ।

चाणक्य : (हँसकर) तब तुम निश्चय ही एक सहृदय व्यक्ति हो।

कात्यायन : अच्छा, तो मैं जाता हूँ।

चाणक्य : हाँ, जाओ । स्मरण रखना, हम लोगों के जीवन में यह अन्तिम संघर्ष है। मुझे आज आम्भीक से मिलना है। वह लोलुप राजा, देखूँ ; क्या करता है।

(कात्यायन का प्रस्थान ; चर का प्रवेश)

चर : महामात्य की जय हो !

चाणक्य : इस समय जय की बड़ी आवश्यकता है । आम्भीक को यदि जय कर सका, तो सर्वत्र जय है। बोलो, आम्भीक ने क्या कहा ?

चर : वे स्वयं आ रहे हैं।

चाणक्य : आने दो, तुम जाओ।

(चर का प्रस्थान ; आम्भीक का प्रवेश)

आम्भीक : प्रणाम, ब्राह्मण देवता !

चाणक्य : कल्याण हो राजन् ! तुम्हें भय तो नहीं लगता ? मैं एक दुर्नाम मनुष्य हूँ।

आम्भीक : नहीं आर्य्य, आप कैसी बात कहते हैं !

चाणक्य : तो ठीक है, इसी तक्षशिला के मठ में एक दिन मैंने कहा था – 'सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय – तभी तो मलेच्छ लोग साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य्य जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।'

आम्भीक : स्मरण है।

चाणक्य : तुम्हारी भूल ने कितना कुत्सित दृश्य दिखाया – इसे भी सम्भवतः तुम न भूले होंगे !

आम्भीक : नहीं !

चाणक्य : तुम जानते हो कि चन्द्रगुप्त ने दक्षिणापथ के स्वर्णगिरि से पंचनद तक, सौराष्ट्र से बंग तक एक महान् साम्राज्य स्थापित किया है। यह साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य्य-साम्राज्य है। उत्तरापथ के सब प्रमुख गणतन्त्र मालव, क्षुद्रकऔर यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व में इस साम्राज्य के अंग हैं। केवल तुम्हीं इससे अलग हो। इस द्वितीय यवन आक्रमण से तुम भारत के द्वार की रक्षा कर लोगे या पहले ही के समान उत्कोच लेकर – द्वार खोलकर – सब झंझटों से अलग हो जाना चाहते हो ?

आम्भीक : आर्य्य, वही त्रुटि बार-बार न होगी।

चाणक्य : तब साम्राज्य झेलम-तट की रक्षा करेगा। सिन्धु-तट का भार तुम्हारे ऊपर रहा।

आम्भीक : अकेले मैं यवनों का आक्रमण रोकने में असमर्थ हूँ।

चाणक्य : फिर उपाय क्या है ?

(नेपथ्य से जयघोष ; आम्भीक चकित होकर देखने लगता है।)

चाणक्य : क्या है ? सुन रहे हो ?

आम्भीक : समझ में नहीं आया। (नेपथ्य की ओर देखकर) वह एक स्त्री आगे-आगे कुछ गाती हुई आ रही है और उसके साथ बड़ी-सी भीड़ है।

(कोलाहल समीप होता है)

चाणक्य : आओ, हम लोग अलग हटकर देखें ।

(दोनों अलग छिप जाते हैं ; आर्य्य-पताका लिये, गाते हुए, अलका का भीड़ के साथ प्रवेश।)

अलका : तक्षशिला के वीर नागरिको ! एक बार, अभी-अभी सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था, आर्य्यावर्त्त – प्यारा देश – ग्रीकों की विजय-लालसा से पुन: पद-दलित होने जा रहा है। तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतन्त्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखों से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है, और तुम ?

नागरिक : हम लोग उसका परिणाम देख चुके हैं माँ ! हम लोग प्रस्तुत हैं।

अलका : यही तो

(समवेत स्वर से गायन)

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता पुकारती –
अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है – बढ़े चलो – बढ़े चलो !
असंख्य कीर्त्ति-रश्मियाँ, विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी !
अराति सैन्य सिन्धु में – सुवाड़ वाग्नि-से जलो !
प्रवीर हो जयी बनो – बढ़े चलो, बढ़े चलो !

(सबका प्रस्थान ; चाणक्य और आम्भीक बाहर आते हैं।)

आम्भीक : यह अलका है ! तक्षशिला में उत्तेजना फैलाती हुई – यह अलका !

चाणक्य : हाँ, आम्भीक ! तुम उसे बन्दी बनाओ – मुँह बन्द करो !

आम्भीक : (कुछ सोचकर) असम्भव ! मैं भी साम्राज्य में सम्मिलित होऊँगा !

चाणक्य : यह मैं कैसे कहूँ ? मेरी लक्ष्मी – अलका ने आर्य्य-गौरव के लिये क्या-क्या कष्ट नहीं उठाये ! वह भी तो इसी वंश की बालिका है ! फिर तुम तो पुरुष हो तुम्हीं सोचकर देखो।

आम्भीक : व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में बाधक न सिद्ध कर सकेगा। आर्य्य चाणक्य , मैं आर्य्य-साम्राज्य के बाहर नहीं हूँ !

चाणक्य : तब तक्षशिला-दुर्ग पर मगध-सेना अधिकार करेगी ! यह तुम सहन करोगे ?

(आम्भीक सिर नीचा करके विचारता है)

चाणक्य : क्षत्रिय ! कह देना और बात है, करना और।

आम्भीक : (आवेश में) हार चुका ही हूँ, पराधीन हो ही चुका हूँ। अब स्वदेश के अधीन होने में उससे अधिक कलंक तो मुझे लगेगा नहीं, आर्य्य चाणक्य !

चाणक्य : तो इस गान्धार और पंचनद का शासन-सूत्र होगा अलका के हाथ में और तक्षशिला होगी उसकी राजधानी, बोलो – स्वीकार है।

आम्भीक : अलका ?

चाणक्य : हाँ, अलका ! और सिंहरण इस महाप्रदेश के शासक होंगे।

आम्भीक : सब स्वीकार है, ब्राह्मण ! मैं केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ। रणक्षेत्र में एक सैनिक होना चाहता हूँ – और कुछ नहीं।

चाणक्य : तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण हो !

(संकेत करता है ; सिंहरण और अलका का प्रवेश।)

अलका : भाई, आम्भीक !

आम्भीक : बहन, अलका ! तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। मैं भूल करता था बहन ! तक्षशिला के लिये अलका पर्याप्त है, आम्भीक की आवश्यकता न थी।

अलका : भाई क्या कहते हो ?

आम्भीक : मैं देशद्रोही हूँ, नीच ..... अधम हूँ। तूने गान्धार के राजवंश का मुख ऊज्वल किया है। राज्यासन के योग्य तू ही है।

अलका : भाई, अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं गया ! राज्य किसी का नहीं है। सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त तक इस महान् आर्य्य-साम्राज्य के सेवक हैं। स्वतन्त्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है। उसी की पूजा होगी, भाई ! तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं; तक्षशिला आर्य्यावर्त्त का एक भू-भाग है; वह आर्य्यावर्त्त की होकर ही रहे,

इसके लिये मर-मिटो ! फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे । वहाँ की अप्सराएँ विजय-माला लेकर खड़ी होंगी, सूर्यमण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित होकर गान्धार राजकुमार का अमर हो जायेगा।

चाणक्य : साधु – अलके – साधु !

आम्भीक : (खड्ग खींचकर) खड्ग की शपथ – मैं कर्त्तव्य से च्युत न होऊँगा !

सिंहरण : (उसे आलिंगन करके) मित्र आम्भीक ! मनुष्य साधारणधर्मा पशु है, विचारशील होने से मनुष्य होता है और नि:स्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है।

(आम्भीक का प्रस्थान)

सिंहरण : अलका, सम्राट् किस मानसिक वेदना में दिन बिताते होंगे ?

अलका : वे वीर हैं मालव, उन्हें विश्वास है कि मेरा कुछ कार्य है। उसकी साधना के लिये प्रकृति, अदृष्ट, दैव या ईश्वर, कुछ-न-कुछ अवलम्ब जुटा ही देगा ! सहायक चाहे आर्य्य चाणक्य हों या मालव !

सिंहरण : अलका उस प्रचण्ड पराक्रम को मैं जानता हूँ। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि सम्राट् मनुष्य हैं। अपने से बार-बार सहायता करने के लिये कहने में, मानव-स्वभाव विद्रोह करने लगता है। यह सौहार्द और विश्वास का सुन्दर अभिमान है। उस समय मन चाहे अभिनय करता हो संघर्ष से बचने का ; किन्तु जीवन अपना संग्राम अन्धा होकर लड़ता है। कहता है – अपने को बचाऊँगा नहीं ; जो मेरे मित्र हों, आवें और अपना प्रमाण दें।

(दोनों का प्रस्थान ; सुवासिनी का प्रवेश।)

चाणक्य : सुवासिनी, तुम यहाँ कैसे ?

सुवासिनी : सम्राट् को अभी तक आपका पता नहीं, पिताजी ने इसीलिए मुझे भेजा है। उन्होंने कहा – जिस खेल का आरम्भ किया है, उसका पूर्ण और सफल अन्त करना चाहिए।

चाणक्य : क्यों करें सुवासिनी ; तुम राक्षस के साथ सुखी जीवन बिताओगी, यदि इतनी भी मुझे आशा होती – वह तो यवन-सेनानी है, और तुम मगध की मन्त्री-कन्या ! क्या उससे परिणय कर सकोगी ?

सुवासिनी : (नि:श्वास लेकर) राक्षस से ! नहीं – असम्भव। चाणक्य तुम इतने निर्दय हो !

चाणक्य : (हँसकर) सुवासिनी ! वह स्वप्न टूट गया – इस विजन बालुका-सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी ; किन्तु तुम्हारे एक भ्रू-भंग ने उसे लौटा दिया। मैं कंगाल हूँ (ठहरकर) सुवासिनी ! मैं तुम्हें दण्ड दूँगा । चाणक्य की नीति में अपराधों के दण्ड से कोई मुक्त नहीं।

सुवासिनी : क्षमा करो विष्णुगुप्त !

चाणक्य : असम्भव है। तुम्हें राक्षस से ब्याह करना ही होगा, इसी में हमारा, तुम्हारा और मगध का कल्याण है।

सुवासिनी : निष्ठुर ! निर्दय !!

चाणक्य : (हँसकर) तुम्हें अभिनय भी करना पड़ेगा। इसमें समस्त संचित कौशल का प्रदर्शन करना होगा। सुवासिनी, तुम्हें बन्दिनी बनकर ग्रीक-शिविर में राक्षस और राजकुमारी के पास पहुँचना होगा – राक्षस को देशभक्त बनाने के लिये और राजकुमारी की पूर्वस्मृति में आहुति देने के लिये। कार्नेलिया चन्द्रगुप्त से परिणीता होकर सुखी हो सकेगी – कि नहीं, इसकी परीक्षा करनी होगी।

(सुवासिनी सिर पकड़कर बैठ जाती है)

चाणक्य : (उसके सिर पर हाथ रखकर) सुवासिनी ! तुम्हारा प्रणय स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ, और शैशव का वह सब – केवल हृदय की स्निग्धता थी। आज इसी कारण से राक्षस का प्रणय द्वेष में बदल रहा है, परन्तु काल पाकर वह अंकुर हरा-भरा और सफल हो सकता है ! चाणक्य यह नहीं मानता है कि कुछ भी असम्भव है। तुम राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती हो, क्रमश: उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है। और मैं – अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ – यही मेरे लिये अच्छा होगा। मानव-हृदय में वह भाव-सृष्टि तो हुआ ही करती है। यही हृदय का रहस्य है, तब हम लोग जिस सृष्टि में स्वतन्त्र हों, उसमें परवशता क्यों मानें ? मैं क्रूर हूँ, केवल वर्तमान के लिये, भविष्य के सुख और शान्ति के लिये ; परिणाम के लिये नहीं। श्रेय के लिये मनुष्य को सब त्याग करना चाहिये, सुवासिनी ! जाओ !

सुवासिनी : (दीनता से चाणक्य का मुँह देखती है) तो विष्णुगुप्त, तुम इतना बड़ा त्याग करोगे ! अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे ! और सो भी मेरे लिये।

चाणक्य : (घबड़ाकर) मैं बड़ा विलम्ब कर रहा हूँ। सुवासिनी, आर्य्य दाण्ड्यायन के आश्रम में पहुँचने के लिये मैं पथ भूल गया हूँ। मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना – यही तो ब्राह्मण का आदर्श है। मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर इस रंगमंच से हट जाना है।

सुवासिनी : महापुरुष ! मैं नमस्कार करती हूँ। विष्णुगुप्त ! तुम्हारी बहन तुमसे आशीर्वाद की भिखारिन है।

(चरण पकड़ती है)

चाणक्य : सुखी रहो।

(सजल नेत्र से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए प्रस्थान)

* * *

त्रयोदश दृश्य

(दाण्ड्यायन का तपोवन ; ध्यानस्थ चाणक्य ; भयभीत भाव से राक्षस और सुवासिनी का प्रवेश।)

राक्षस : चारों ओर आर्य्य-सेना ! कहीं से निकलने का उपाय नहीं। क्या किया जाये सुवासिनी !

सुवासिनी : यह तपोवन है – यहीं कहीं हम लोग छिप रहेंगे।

राक्षस : मैं देशद्रोही – ब्राह्मण-द्रोही – बौद्ध ! हृदय काँप रहा है। क्या होगा ?

सुवासिनी : आर्य्यों का तपोवन इन राग-द्वेषों से परे है।

राक्षस : तो चलो वहीं। (सामने देखकर) सुवासिनी ! वह देखो – वह कौन ?

सुवासिनी : (देखकर) आर्य्य चाणक्य !

राक्षस : आर्य्य-साम्राज्य का महामन्त्री इस तपोवन में।

सुवासिनी : यही तो ब्राह्मण की महत्ता है राक्षस ! यों तो मूर्खों की निवृत्ति भी प्रवृत्तिमूलक होती है। देखो, यह सूर्य-रश्मियों का-सा रस-ग्रहण कितना निष्काम, कितना निवृत्तिपूर्ण है।

राक्षस : सचमुच मेरा भ्रम था सुवासिनी ! मेरी इच्छां होती है कि चलकर इस महात्मा के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लूँ और क्षमा माँग लूँ !

सुवासिनी : बड़ी अच्छी बात सोची तुमने। देखो !

(दोनों छिप जाते हैं)

चाणक्य : (आँख खोलता हुआ) कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है। भगवान् सविता, तुम्हारा आलोक, जगत् का मंगल करे। मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ। विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आयी। आज मुझे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्य-सागर निस्तरंग है और ज्ञान-ज्योति निर्मल है। तो क्या मेरा कर्म-कुलाल-चक्र अपना निर्मित भाण्ड उतार कर धर चुका ? ठीक तो, प्रभात-पवन के साथ सबकी सुख-कामना शान्ति का आलिंगन कर रही है। देव ! आज मैं धन्य हूँ।

(दूसरी ओर झाड़ी में मौर्य्य)

मौर्य्य : ढोंग है। रक्त और प्रतिशोध, क्रूरता और मृत्यु का खेल देखते ही जीवन बीता, अब क्या मैं इस सरल पथ पर चल सकूँगा ? यह ब्राह्मण आँखें मूँदने-खोलने का अभिनय भले ही करे, पर मैं ! असम्भव है, अरे ! जैसा मेरा रक्त खौलने लगा ! हृदय में एक भयानक चेतना, एक अवज्ञा का अट्टहास, प्रतिहिंसा जैसे नाचने लगी ! यह एक साधारण मनुष्य, दुर्बल कंकाल, विश्व के समूचे शस्त्रबल को तिरस्कृत किये बैठा है। रख दूँ गले पर खड्ग, फिर देखूँ तो यह प्राण-भिक्षा माँगता है या नहीं ! सम्राट् चन्द्रगुप्त के पिता की अवज्ञा ! नहीं-नहीं, ब्रह्महत्या होगी, – हो ; मेरा प्रतिशोध और चन्द्रगुप्त का निष्कण्टक राज्य !

(छुरी निकालकर चाणक्य को मारना चाहता है ; सुवासिनी दौड़कर उसका हाथ पकड़ लेती है ; दूसरी ओर से अलका, सिंहरण और अपनी माता के साथ चन्द्रगुप्त का प्रवेश।)

चन्द्रगुप्त : (आश्चर्य और क्रोध से) यह क्या पिताजी ! सुवासिनी ! बोलो, बात क्या है ?

सुवासिनी : मैंने देखा कि सेनापति, आर्य्य चाणक्य को मारना ही चाहते हैं इसलिए मैंने इन्हें रोका !

चन्द्रगुप्त : गुरुदेव, प्रणाम ! चन्द्रगुप्त क्षमा का भिखारी नहीं, न्याय करना चाहता है। बतलाइए, पूरा विवरण सुनना चाहता हूँ, और पिताजी, आप शस्त्र रख दीजिये ! सिंहरण !

(सिंहरण आगे बढ़ता है)

चाणक्य : (हँसकर) सम्राट् ! न्याय करना तो राजा का कर्त्तव्य है ; परन्तु यहाँ पर पिता और गुरु का सम्बन्ध है, कर सकोगे ?

चन्द्रगुप्त : पिताजी !

मौर्य्य : हाँ चन्द्रगुप्त, मैं इस उद्धत ब्राह्मण का – सबकी अवज्ञा करने वाले महत्त्वाकांक्षी का वध करना चाहता था। कर न सका, इसका दु:ख है। इस कुचक्रपूर्ण रहस्य का अन्त न कर सका।

चन्द्रगुप्त : पिताजी, राज्य-व्यवस्था आप जानते होंगे – वध के लिये, प्राणदण्ड होता है, और आपने गुरुदेव का – इस आर्य्य-साम्राज्य के निर्माणकर्त्ता ब्राह्मण का वध करने जाकर कितना गुरुतर अपराध किया है !

चाणक्य : किन्तु सम्राट्, वह वध हुआ नहीं, ब्राह्मण जीवित है। अब यह उसकी इच्छा पर है कि वह व्यवहार के लिये न्यायाधिकरण से प्रार्थना करे या नहीं।

चन्द्रगुप्त जननी : आर्य्य चाणक्य !

चाणक्य : ठहरो देवि ! (चन्द्रगुप्त से) मैं प्रसन्न हूँ वत्स ! यह मेरे अभिनय का दण्ड था। मैंने आज तक जो किया, वह न करना चाहिए था ; उसी का महाशक्ति-केन्द्र ने प्रायश्चित कराना चाहा। मैं विश्वस्त हूँ कि तुम अपना कर्त्तव्य कर लोगे। राजा न्याय कर सकता है – परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है।

राक्षस : (प्रवेश करके) आर्य्य चाणक्य ! आप महान् हैं। मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। न्यायाधिकरण से, अपने अपराध – विद्रोह का दण्ड पाकर सुखी रह सकूँगा। सम्राट्, आपकी जय हो !

चाणक्य : सम्राट्, मुझे आज का अधिकार मिलेगा ?

चन्द्रगुप्त : आज वही होगा गुरुदेव ! जो आज्ञा होगी।

चाणक्य : मेरा किसी से द्वेष नहीं, केवल राक्षस के सम्बन्ध में अपने पर सन्देह कर सकता था, आज उसका भी अन्त हो गया। सम्राट् सिल्यूकस आते ही होंगे, उसके पहले ही हमें अपना सब विवाद मिटा देना चाहिए।

चन्द्रगुप्त : जैसी आज्ञा।

चाणक्य : आर्य्य शकटार के भावी जामाता अमात्य राक्षस के लिये मैं अपना मन्त्रित्व छोड़ता हूँ। राक्षस ! सुवासिनी को सुखी रखना।

(सुवासिनी और राक्षस, चाणक्य को प्रणाम करते हैं)

मौर्य्य : और मेरा दण्ड ? आर्य्य चाणक्य, मैं क्षमा ग्रहण न करूँ तब आत्महत्या करूँगा !

चाणक्य : मौर्य्य ! तुम्हारा पुत्र आज आर्य्यावर्त्त का सम्राट् है – अब और कौन-सा सुख तुम देखना चाहते हो ? काषाय ग्रहण कर लो, इसमें अपने अभिमान को मारने का तुम्हें अवसर मिलेगा। वत्स चन्द्रगुप्त ! शस्त्र दो अमात्य राक्षस को !

(मौर्य्य शस्त्र फेंक देता है ; चन्द्रगुप्त शस्त्र देता है – राक्षस सविनय ग्रहण करता है।)

सब : सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य्य की जय !

(प्रतिहार का प्रवेश)

प्रतिहार : सम्राट् सिल्यूकस शिविर से निकल चुके हैं।

चाणक्य : उनकी अभ्यर्थना राज-मन्दिर में होनी चाहिए, तपोवन में नहीं।

चन्द्रगुप्त : आर्य्य, आप उस समय न उपस्थित रहेंगे ?

चाणक्य : देखा जायेगा।

(सबका प्रस्थान)

चतुर्दश दृश्य

(राजसभा ; एक ओर से सपरिवार चन्द्रगुप्त और दूसरी ओर से साइबर्टियस, मेगस्थतनीज़, एलिस और कार्नेलिया के साथ सिल्यूकस का प्रवेश ; सब बैठते हैं।)

चन्द्रगुप्त : विजेता सिल्यूकस का मैं अभिनन्दन करता हूँ – स्वागत !

सिल्यूकस : सम्राट् चन्द्रगुप्त! आज मैं विजेता नहीं, विजित से अधिक भी नहीं ! मैं सन्धि और सहायता के लिये आया हूँ।

चन्द्रगुप्त : कुछ चिन्ता नहीं सम्राट्, हम लोग शस्त्र-विनिमय कर चुके, अब हृदय का विनिमय ....

सिल्यूकस : हाँ, हाँ, कहिए।

चन्द्रगुप्त : राजकुमारी, स्वागत ! मैं उस कृपा को नहीं भूल गया जो ग्रीक-शिविर में रहने के समय मुझे आपसे प्राप्त हुई थी।

सिल्यूकस : हाँ कार्नी ! चन्द्रगुप्त उसके लिये कृतज्ञता प्रकट कर रहे हैं !

कार्नेलिया : मैं आपको भारतवर्ष का सम्राट् देखकर कितनी प्रसन्न हूँ।

चन्द्रगुप्त : अनुगृहीत हुआ। (सिल्यूकस से) औंटिगोनस से युद्ध होगा ! सम्राट् ! गज-सेना आपकी सहायता के लिये जायेगी। हिरात में आपके जो प्रतिनिधि रहेंगे, उनसे समाचार मिलने पर और भी सहायता के लिये आर्य्यावर्त्त प्रस्तुत है।

सिल्यूकस : इसके लिये धन्यवाद देता हूँ। सम्राट् चन्द्रगुप्त, आज से हम लोग दृढ़ मैत्री के बन्धन में बँधे ! प्रत्येक का दु:ख-सुख दोनों का होगा ; किन्तु एक अभिलाषा मन में रह जायेगी।

चन्द्रगुप्त : वह क्या ?

सिल्यूकस : उस बुद्धिसागर, आर्य्य-साम्राज्य के महामन्त्री चाणक्य को देखने की बड़ी अभिलाषा थी।

चन्द्रगुप्त : उन्होंने विरक्त होकर, शान्तिमय जीवन बिताने का निश्चय किया है।

(सहसा चाणक्य का प्रवेश ; सब अभ्युत्थान देकर प्रणाम करते हैं)

सिल्यूकस : आर्य्य चाणक्य ! मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।

चाणक्य : सुखी रहो सिल्यूकस, हम भारतीय ब्राह्मणों के पास सबकी कल्याण-कामना के अतिरिक्त और क्या है – जिससे अभ्यर्थना करूँ ? मैं आज का दृश्य देखकर चिर-विश्राम के लिये संसार से अलग होना चाहता हूँ।

सिल्यूकस : और मैं सन्धि करके स्वदेश लौटना चाहता हूँ। आपके आशीर्वाद की बड़ी अभिलाषा थी। सन्धि-पत्र ....

चाणक्य : किन्तु सन्धि-पत्र स्वार्थों से प्रबल नहीं होते, हस्ताक्षर तलवारों को रोकने में असमर्थ प्रमाणित होंगे। तुम दोनों ही सम्राट् हो, शस्त्र-व्यवसायी हो ; फिर भी संघर्ष हो जाना कोई आश्चर्य की बात न होगी। अतएव, दो बालुकापूर्ण कगारों के बीच में एक निर्मल स्रोतस्विनी का रहना आवश्यक है।

सिल्यूकस : सो कैसे ?

चाणक्य : ग्रीस की गौरव-लक्ष्मी कार्नेलिया को मैं भारत की कल्याणी बनाना चाहता हूँ ! – यही ब्राह्मण की प्रार्थना है।

सिल्यूकस : मैं तो इससे प्रसन्न ही हूँगा, यदि .....

चाणक्य : यदि का काम नहीं, मैं जानता हूँ ; इसमें दोनों प्रसन्न और सुखी होंगे।

सिल्यूकस : (कार्नेलिया की ओर देखता है, वह सलज्ज सिर झुका लेती है) – तब आओ बेटी .... आओ चन्द्रगुप्त –

(दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं ; सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है ; फूलों की वर्षा और जय-ध्वनि)

चाणक्य : (मौर्य्य का हाथ पकड़कर) चलो, अब हम लोग चलें।

(यवनिका)

❖❖❖

अन्धा युग

– धर्मवीर भारती

चौथा अंक

गान्धारी का शाप

कथा-गायन

वे शंकर थे
वे रौद्र-वेशधारी विराट
प्रलयंकर थे
जो शिविर-द्वार पर दीखे
अश्वत्थामा को

अनगिनत विष भरे साँप
भुजाओं पर
बाँधे
वे रोम-रोम में अगणित
महाप्रलय
साधे
जो शिविर द्वार पर दीखे
अश्वत्थामा को

बोले वे जैसे प्रलय-मेघ-गर्जन-स्वर
"मुझको पहले जीतो तब जाओ अंदर!"

युद्ध किया अश्वत्थामा ने पहले
है और कौन जो दिव्यास्त्रों को सह ले
शर, शक्ति, प्रास, नाराच, गदाएँ सारी
लो क्रोधित हो अश्वत्थामा ने मारी
वे उनके एक रोम में
समा गयीं
सब

वह हार मान वन्दना
लगा करने
तब

(अश्वत्थामा का स्वर)

जटा कटाह सम्भ्रमन्निलिम्प निर्झरी समा
विलोल वीचि वल्लरी विराजमान मूर्धनि

धगद्धगद्धगज्जवललाट पट्ट पावके
किशोर चन्द्र शेखरे रति प्रतिक्षण मम।

वे आशुतोष हैं
हाथ उठाकर बोले

"अश्वत्थामा तुम विजयी होगे निश्चय
हो चुका पाण्डवों के पुण्यों का अब क्षय
मैं कृष्ण-प्रेमवश
अब तक इनकी रक्षा करता था
मैं विजय दिलाता
इनमें नया पराक्रम भरता था
पर कर अधर्म-वध
द्वार उन्होंने स्वतः मृत्यु के खोले"

वे आशुतोष हैं
हाथ उठाकर बोले !

(पर्दा उठने पर गान्धारी बैठी हुई दीख पड़ती हैं और विदुर तथा संजय इस मुद्रा में खड़े हैं जैसे वार्तालाप पहले से चल रहा हो।)

गान्धारी : फिर क्या हुआ ?
संजय ! फिर क्या हुआ ?

संजय : (पाठ करते हुए)

शंकर की दैवी असि लेकर अश्वत्थामा
जा पहुँचा योद्धा धृष्टद्युम्न के सिरहाने
बिजली-सा झपट, खींच कर शय्या के नीचे
घुटनों से दाब दिया उसको
पंजों से गला दबोच लिया
आँखों के कोटर से दोनों साबित गोले
कच्चे आमों की गुठली-जैसे उछल गए
खाली गड्ढों से काला लहू उबल पड़ा।

गान्धारी : अन्धा कर दिया उसको पहले ही
कितना दयालु है अश्वत्थामा

संजय : बड़े कष्ट से जोड़-जोड़ कर शब्द
कहा उसने 'वध करना है तो अस्त्रों से कर दो'
'तुम योग्य नहीं हो उसके नरपशु धृष्टद्युम्न!
तुमने नि:शस्त्र द्रोण की कायर हत्या की,
यह बदला है !' फिर चूर-चूर कर दिए
ठोकरों से उसने मर्मस्थल .....

विदुर : बस करो।

गान्धारी : फिर क्या हुआ ?

संजय : कोलाहल सुन जो अस्त-व्यस्त योद्धा जागे
आँखें मलते बाहर आये
उनको क्षण भर में गिरा दिया
तीखे जहरीले तीरों से
शतानीक को कुछ ना मिला तो पहिये से ही
वार किया।
अश्वत्थामा ने काट दिये उसके घुटने
सोया था दूर शिखंडी उसके पास पहुँच कर
माथे के बीचों बीच एक बाण मारा
जो मस्तक फाड़ चीरता चन्दन-शय्या को
धरती के अन्दर समा गया।

गान्धारी : फिर क्या हुआ संजय ?

विदुर : हृदय तुम्हारा पत्थर का है गान्धारी !

गान्धारी : पत्थर की खानों से मणियाँ निकलती हैं
बाधा मत डालो विदुर
संजय फिर .....

विदुर : संजय नहीं, मुझसे सुनो
कितनी जघन्य वह
प्रतिहिंसा थी
कृपाचार्य, कृतवर्मा, बाहर थे
जितने बच्चे बूढ़े नौकर बाहर भागे

बाणों से छेद दिया उनको कृतवर्मा ने
डरे हुए हाथी चिग्घाड़ कर शिविरों को
चीरते हुए भागे
शय्या पर सोई हुई
स्त्रियाँ जहाँ थीं वहीं कुचल गईं
उसी समय उन दोनों वीरों ने
पाण्डव शिविरों में लगा दी आग।

गान्धारी : काश कि मैं अपनी आँखों से
देख पाती यह ?
कैसी ज्योति से घिरा होगा तब अश्वत्थामा !

संजय : धुआँ, लपट, लोथें, घायल घोड़े, टूटे रथ
रक्त, मेद, मज्जा, मुण्ड,
खंडित कबन्धों में
टूटी पसलियों में
विचरण करता था अश्वत्थामा
सिंहनाद करता हुआ
नररक्त से वह तलवार उसके हाथों में
चिपक गयी थी ऐसे
जैसे वह उगी हो
उसी के भुजमूलों से।

गान्धारी : ठहरो
संजय ठहरो
दिव्यदृष्टि से मुझको दिखला दो एक बार
वीर अश्वत्थामा को।

संजय : माता वह कुरूप है
भयंकर है

गान्धारी : किन्तु वीर है
उसने वह किया है
जो मेरे सौ पुत्र नहीं कर पाये
द्रोण नहीं कर पाये !
भीष्म नहीं कर पाये !

संजय : माता !
व्यास ने मुझको दिव्यदृष्टि दी थी
केवल युद्ध की अवधि के लिए
पता नहीं कब वह सामर्थ्य मुझसे छिन जाय !

गान्धारी : इसीलिए कहती हूँ।
अन्यायी कृष्ण इसके बाद अश्वत्थामा को
जीवित नहीं छोड़ेंगे
देखने दो मुझको उसे एक बार।

संजय : मैं प्रयास करता हूँ
मेरे सारे पुण्यों का बल समवेत होकर
दर्शन करायेगा
आप को अश्वत्थामा के

(ध्यान करता है।)

दीवारों हट जाओ
राह में जो बाधाएँ दृष्टि रोकती हों
वे माया से सिमट जायँ
दूरी मिट जाये
क्षितिज रेखा के पार
दृष्टि से छिपे हैं जो दृश्य वे निकट आ जायँ।

(पीछे का पर्दा हटने लगता है, आगे के प्रकाश बुझने लगते हैं।)

अँधेरा है
यह वह स्थल है
जहाँ मरणासन्न दुर्योधन कल तक पड़ा था
अस्त्र-शस्त्र लिए हुए
कौन ये दोनों योद्धा आये
ये हैं कृपाचार्य, कृतवर्मा।

(पीछे दूर से वे अँधेरे में पुकारते हैं, 'महाराज दुर्योधन !' 'महाराज दुर्योधन !')

कृपाचार्य : कृतवर्मा
ज्यातिबाण फेंको
कुछ तिमिर घटे

कृतवर्मा : (नेपथ्य की ओर देखकर)
वे हैं महाराज
निश्चय ही अर्द्ध-मृत दुर्योधन को
खींच ले गए हैं हिंसक पशु उस झाड़ी में

कृपाचार्य : जीवित हैं अभी
होंठ हिलते से लगते हैं।

कृतवर्मा : समझ नहीं पड़ता है
मुख से बह-बह कर रक्त
काले-काले थक्कों से जमा हुआ है चारों ओर
हलक भी जमी होगी।

कृपाचार्य : (रुक-रुक कर, ज़रा ज़ोर से)
महाराज !
सेनापति अश्वत्थामा ने
ध्वस्त कर दिया है पूरे पाण्डव-शिविर को आज
शेष नहीं बचा एक भी योद्धा।

कृतवर्मा : महाराज के मुख पर
आभा सन्तोष की झलक आयी।

कृपाचार्य : पलकें भी खोल लीं।

कृतवर्मा : ढूँढ रहे हैं किसे
शायद अश्वत्थामा को ?

कृपाचार्य : महाराज !
अश्वत्थामा अपना ब्रह्मास्त्र
और मणि लेने गया है
उसे लेकर हम तीनों घोर वन में चले जायेंगे।

कृतवर्मा : महाराज की आँखों से बह रहे अश्रु !

(गान्धारी और संजय पर प्रकाश पड़ता है।)

संजय : यह क्या माता !
पट्टी उतारी ही नहीं तुमने
वह देखो आया अश्वत्थामा ?

गान्धारी : नहीं ! नहीं ! नहीं !
देख नहीं पाऊँगी
किसी भी तरह मैं
मरणोन्मुख दुर्योधन को
रहने दो संजय
यह पट्टी बँधी है, बँधी रहने दो
मुझको बताते जाओ क्या हो रहा है वहाँ ?

विदुर : कुछ भी नहीं दीख पड़ रहा है मुझे।

संजय : अश्वत्थामा आ गया है
पर शीश झुकाये है
बिलकुल चुप है

(आगे का प्रकाश पुन: बुझ जाता है।)

कृपाचार्य : महाराज !
आपका अश्वत्थामा आ गया।
हाथ उठा सकते नहीं
एक बार दृष्टि उठा कर दे दें आशीष इसे।

अश्वत्थामा : नहीं स्वामी नहीं !
मैं अब भी अनधिकारी हूँ।
मैंने प्रतिशोध ले लिया धृष्टद्युम्न से
पिता की पाप-हत्या का
किन्तु अब भी आपका प्रतिशोध नहीं ले पाया।
शेष है अभी भी,
सुरक्षित है उत्तरा
जन्म देगी जो पाण्डव उत्तराधिकारी को
किन्तु स्वामी
अपना कार्य पूरा करूँगा मैं।
सूर्यलोक में जब द्रोण से मिलें आप
कहें .....

कृतवर्मा : किससे कहते हो
अश्वत्थामा, किससे कहते हो !
महाराज नहीं रहे।

(शोकसूचक संगीत। कृपाचार्य विह्वल होकर मुँह ढक लेते हैं। आगे गान्धारी चीख कर मूर्च्छित हो जाती है।)

अश्वत्थामा : किसका चीत्कार है यह !
माता गान्धारी
मैं कहता हूँ धैर्य धरो
जैसे तुम्हारी कोख कर दी है पुत्रहीन कृष्ण ने
वैसे ही मैं भी उत्तरा को कर दूँगा पुत्रहीन
जीवित नहीं छोडूँगा उसको मैं
कृष्ण चाहे सारी योगमाया से रक्षा करें।

(पीछे का पर्दा गिरने लगता है।)

गान्धारी : संजय,
संजय, मेरी पट्टी उतार दो
देखूँगी मैं अश्वत्थामा को
वज्र बना दूँगी उसके तन को
संजय

लो मैंने यह पट्टी उतार फेंकी
कहाँ है अश्वत्थामा।

(पीछे का पर्दा बिलकुल बन्द हो जाता है।)

संजय : यह क्या हुआ माता ?
अब तक जो दिव्यदृष्टि से था मैं देख रहा
सहसा उस पर एक पर्दा-सा छा गया।

गान्धारी : जल्दी करो
आँसू न गिर आयें।

संजय : दीवारों हट जाओ !
दीवारों हट जाओ !
माता ! माता !
मेरी दिव्यदृष्टि को क्या हो गया आज ?

दीवारों !
दीवारों !

आँखें नहीं खुलती हैं
अन्धों को सत्य दिखाने में क्या
मुझको भी अन्धा ही होना है।

विदुर : संजय
तुमको दीख नहीं पड़ता क्या
वन, या दुर्योधन, या .....

संजय : नहीं विदुर
केवल दीवारें ! दीवारें ! दीवारें !

विदुर : सब समाप्त होने की
जैसे यही एक बेला है।

(गान्धारी जड़ बैठी है।)

संजय : व्यास ! क्यों मुझको दिव्यदृष्टि दी थी
थोड़ी-सी अवधि के लिए
आज से कभी भी इस सीमित दृश्य जगत् से
मैं तृप्ति नहीं पाऊँगा
सीमाएँ तोड़ कर अनन्त में समाहित होने को
प्यासी मेरी आत्मा रहेगी सदा !

विदुर : माता उठो !
छोड़ो हस्तिनापुर को
चल कर समन्तपंचक
अन्तिम संस्कार करो अपने कुटुम्बियों का
संजय !
सब बान्धवों से कह दो, परिजनों से कह दो,
आज ही करेंगे प्रस्थान युद्धभूमि को।

संजय : (जाते हुए)
अट्ठारह दिनों का लोमहर्षक संग्राम यह
मुझको दृष्टि देकर और लेकर चला गया।

(युयुत्सु का प्रवेश)

विदुर : चलो माता,
महाराज को बुला लो।
युयुत्सु तुम भी चलो।

युयुत्सु : जिसने किया हो खुद वध
उसकी अंजलि का तर्पण
स्वीकार किसे होगा भला ?
वे मेरे बन्धु हैं
मेरे परिजन
किन्तु सुनो कृष्ण !
आज मैं किस मुँह से उनका तर्पण करूँगा ?

(सब जाते हैं। पीछे का पर्दा धीरे-धीरे उठता है।)

कथा-गायन

वे छोड़ चले कौरव-नगरी को निर्जन
वे छोड़ चले वह रत्नजटित सिंहासन
जिसके पीछे था युद्ध हुआ इतने दिन
सूनी राहें, चौराहे या घर के आँगन
जिस स्वर्ण-कक्ष में रहता था दुर्योधन
उसमें निर्भय वनपशु करते थे विचरण

वे छोड़ चले कौरव नगरी को निर्जन
करने अपने सौ मृत पुत्रों का तर्पण

आगे रथ पर कौरव विधवाओं को ले
है चली जा चुकी कौरव-सेना सारी
पीछे पैदल आते हैं शीश झुकाए
धृतराष्ट्र, युयुत्सु विदुर, संजय, गान्धारी

(क्रम से धृतराष्ट्र, युयुत्सु, विदुर, संजय और गान्धारी धीरे-धीरे चलते हुए ऊपर आते हैं। धृतराष्ट्र एक बार लड़खड़ाते हैं।)

धृतराष्ट्र : वृद्ध है शरीर
और जर्जर है
चला नहीं जाता है।

विदुर : संजय तनिक रुको !

(महाराज बैठ जाते हैं। सब रुक जाते हैं।)

युयुत्सु : किसके हैं रथ वे
उधर झाड़ी में छिपे-छिपे .....

संजय : वे तो हैं कृपाचार्य !

विदुर : इधर कृतवर्मा हैं।

गान्धारी : संजय ! क्या अश्वत्थामा !

विदुर : हाँ माता
वह है अश्वत्थामा।

धृतराष्ट्र : जाने दो।

गान्धारी : रोको उसे।

संजय : रुको
ओ रुको अश्वत्थामा
हम हैं संजय

माता गान्धारी, महाराज,
संग है हमारे
विदुर और यु...

धृतराष्ट्र : संजय !
मत नाम लो युयुत्सु का
क्रोधित अश्वत्थामा जीवित नहीं छोड़ेगा

मेरा है केवल एक पुत्र शेष
खोकर उसे कैसे जीवित रहूँगा ?

गान्धारी : और जब पुत्र वह पराक्रमी यशस्वी है।
संजय चलो
यहीं रहने दो युयुत्सु को
पुत्र कहीं छिप जाओ
प्राण बचाओ
अब तुम्हीं हो आश्रय
अपने अन्धे पिता वृद्ध माता के

(संजय के साथ जाती है)

युयुत्सु : यह सब मैं सुनूँगा
और जीवित रहूँगा
किन्तु किसके लिये
किन्तु किसके लिये।

धृतराष्ट्र : मेरे अन्धेपन से तुम थे उत्पन्न पुत्र !
वही थी तुम्हारी परिधि !
उसका उल्लंघन कर तुमने
जो ज्योतिवृत्त में रहना चाहा .....

विदुर : क्या वह अपराध था ?

(गान्धारी और संजय लौट आते हैं)

धृतराष्ट्र : आ गए संजय तुम !

संजय : अश्वत्थामा तो
बिलकुल बदला हुआ-सा है।
वीर नहीं वह तो जैसे भय की प्रतिमूर्त्ति है।
रह-रह काँप उठता है
रथ की वल्गाएँ हाथों से छूट जाती हैं।

(दूर कहीं शंखध्वनि)

गान्धारी : पागल है
कहता है मैं वल्कल धारण कर
रहूँगा तपोवन में
डरता है कृष्ण से।

(पुन: कई विस्फोट और एक अलौकिक प्रकाश)

संजय : पाण्डवों को लेकर साथ
कृष्ण आ रहे हैं
उसकी खोज में।

गान्धारी : मार नहीं पाएँगे कृष्ण उसे
मैंने उसे देख कर
वज्र कर दिया है उसके तन को !

(दूर कहीं विस्फोट)

विदुर : लगता है
ढूँढ़ लिया प्रभु ने उसे।

धृतराष्ट्र : संजय देखो तो ज़रा।

संजय : मेरी दिव्यदृष्टि वापस ले ली है व्यास ने।

युयुत्सु : यह तो प्रकाश है
अर्जुन के अग्निबाण का !

विदुर : झुलस-झुलस कर
गिर रही हैं वनस्पतियाँ।

(बुझे हुए दो अग्नि-बाण मंच पर गिरते हैं।)

धृतराष्ट्र : संजय दूर निकल चलो इस क्षेत्र से !

गान्धारी : किन्तु कृष्ण तुमने अनिष्ट यदि किया
अश्वत्थामा का .....

(सुलगते हुए बाण फिर गिरते हैं।)

विदुर : माता चलो
सुरक्षित नहीं है यहाँ
गिर रहे हैं जलते बाण यहाँ।

(जाते हैं। कुछ क्षण स्टेज खाली रहता है। नेपथ्य में शंखनाद। लगातार विस्फोट। तीव्र प्रकाश।)

(अकस्मात् दौड़ता हुआ अश्वत्थामा आता है। उसके गले में बाण चुभा हुआ है। खींच कर बाण निकालता है और रक्त बह निकलता है। इतने में दूसरा बाण आता है जिसे वह बचा जाता है और फिर तन कर खड़ा हो जाता है। क्रोध से आरक्त मुख।)

अश्वत्थामा : रक्षा करो
अपनी अब तुम अर्जुन !
मैंने तो सोचा था –
वल्कल धारण कर रहूँगा तपोवन में
पूरे पाण्डव को

निर्मूल किए बिना शायद
युद्धलिप्सा
नहीं शान्त होगी कृष्ण की।
अच्छा तो यह लो !
अर्जुन स्मरण करो अपने
विगत कर्म
इसके प्रभाव को
एक क्या करोड़ कृष्ण मिटा नहीं पायेँगे।
सुनो तुम सब नभ के देवगण
अपने-अपने
विमानों पर आरूढ़
देख रहे हो जो इस युद्ध को
साक्षी रहोगे तुम
विवश किया है मुझे अर्जुन ने
यह लो
यह है ब्रह्मास्त्र !

(कोई काल्पनिक वस्तु फेंकता है। ज्वालामुखियों की-सी गड़गड़ाहट। तेज महताबी-सा प्रकाश, फिर अँधेरा।)

व्यास : (आकाशवाणी)
यह क्या किया ?
अश्वत्थामा ! नराधम !
यह क्या किया !

अश्वत्थामा : कौन दे रहा है अपनी
मृत्यु को निमन्त्रण
मेरे प्रतिशोध में बाधक बन कर

व्यास : मैं हूँ व्यास।
ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का ?
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु !
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्ठग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी

जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा-सदा के लिये होगा विलीन वह

गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे
नदियों में बह-बहा कर आयेगी पिघली आग।

अश्वत्थामा : भस्म हो जाने दो
आने दो प्रलय व्यास !
देखूँ मैं रक्षण-शक्ति कृष्ण की ?

व्यास : तो देख उधर
कृष्ण के कहने से, पहले ही
अर्जुन ने छोड़ दिया था नभ में अपना ब्रह्मास्त्र
लेकिन नराधम
ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी नभ में टकरायेंगे
सूरज बुझ जायेगा।
धरा बंजर हो जायेगी।

(फिर गड़गड़ाहट। तेज प्रकाश और फिर अँधेरा)

अश्वत्थामा : मैं क्या करूँ
मुझको विवश किया अर्जुन ने
मैं था अकेला और अन्यायी कृष्ण पाण्डवों के सहित
मेरा वध करने को आतुर थे।

(भयानक आर्त्तनाद)

व्यास : अर्जुन सुनो
मैं हूँ व्यास
तुम वापस ले लो ब्रह्मास्त्र को
अश्वत्थामा ! अपनी कायरता से तू
मत ध्वस्त कर मनुजता को
वापस ले अपना ब्रह्मास्त्र और मणि देकर
वन में चला जा .....

अश्वत्थामा : व्यास ! मैं अशक्त हूँ,
मुझको है ज्ञात रीति केवल आक्रमण की
पीछे हटना मुझको या मेरे अस्त्रों को
मेरे पिता ने सिखाया नहीं।

व्यास : सूरज बुझ जायेगा।
धरा बंजर हो जायेगी।

अश्वत्थामा : अच्छा तो सुन लो व्यास
सुन लो कृष्ण –
यह अचूक अस्त्र अश्वत्थामा का
निश्चित गिरे जाकर
उत्तरा के गर्भ पर।
वापस नहीं होगा।

(भयानक विस्फोट)

व्यास : तुम पशु हो !
तुम पशु हो !
तुम पशु हो !

(अश्वत्थामा विकट अट्टहास करता है।)

अश्वत्थामा : था मैं नहीं
मुझको युधिष्ठिर ने बना दिया।

(पर्दा गिरकर आगे का दृश्य। नेपथ्य में पाण्डव-वधुओं का क्रन्दन सुन पड़ता है। गान्धारी और संजय आते हैं।)

गान्धारी : चलते चलो संजय !
क्रन्दन यह कैसा है ?
सुनते हो ?

संजय : अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र जा गिरा है
उत्तरा के गर्भ पर।

गान्धारी : करेगा
वह अपना प्रण पूरा करेगा।

संजय : (रुककर)
माता, किन्तु कृष्ण उसे क्षमा नहीं करेंगे।

गान्धारी : चलते चलो संजय
उसका वध नहीं कर सकेंगे कृष्ण
चक्र यदि कृष्ण का खण्ड-खण्ड मुझको
कर भी दे
तो,
मैं तो अभी जाऊँगी वहाँ
जहाँ गहन मृत्युनिद्रा में सोया है दुर्योधन

चलते चलो संजय !

(जाते हैं। धृतराष्ट्र और युयुत्सु का प्रवेश।)

धृतराष्ट्र : वत्स, तुम मेरी आयु लेकर भी
जीवित रहो
अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र
यदि गिरा है उत्तरा पर
तो कौन जाने एक दिन युधिष्ठिर
सब राजपाट तुमको ही सौंप दें !

युयुत्सु : (कटु हँसी हँसकर)
और इस तरह
अश्वत्थामा की पशुता
मेरा खोया हुआ भाग्य फिर लौटा लाए !
नहीं पिता नहीं,
इतना ही दंशन क्या काफी नहीं हैं इस अभागे को।

(पाण्डवों की जयध्वनि सुन पड़ती है, विदुर आते हैं)

धृतराष्ट : यह कैसी जयध्वनि ?

विदुर : महाराज !
रक्षा कर ली उत्तरा की मेरे प्रभु ने !

धृतराष्ट्र : (एक क्षण को स्तब्ध होकर)
कैसे विदुर !

विदुर : बोले वे
यदि यह ब्रह्मास्त्र गिरता है तो गिरे
लेकिन जो मुर्दा शिशु होगा उत्पन्न
उसे जीवित करूँगा मैं देकर अपना जीवन।

धृतराष्ट्र : अश्वत्थामा को
क्या छोड़ दिया कृष्ण ने ?

विदुर : छोड़ दिया !
केवल भ्रूण-हत्या का शाप
उसे दिया और
उससे मणि ले ली .....

मणि देकर लेकर शाप
खिन्न-मन अश्वत्थामा
नतमस्तक चला गया।

युयुत्सु : (जिस पर कोई भावनात्मक प्रतिक्रिया लक्षित नहीं होती)
मुझको आशंका है
माता गान्धारी
सुन कर पराजय अपने अश्वत्थामा की
जाने क्या कर डालें !

धृतराष्ट्र : चलो विदुर
आगे गयी हैं वे !
मैं भी धीरे-धीरे आता हूँ !

(पहले तेज़ी से विदुर, फिर धृतराष्ट्र और युयुत्सु उधर जाते हैं जिधर गान्धारी गयी हैं। पर्दा खुलकर अन्दर का दृश्य। संजय, गान्धारी और विदुर।)

संजय : यह वह स्थल है
यहीं कहीं हुए थे धराशायी महाराज दुर्योधन !
यह है स्वर्ण शिरस्त्राण
यह है गदा उनकी
यह है कवच उनका।

(गान्धारी पट्टी उतार देती हैं। एक-एक वस्तु को टटोल-टटोलकर देखती हैं। कवच पर हाथ फेरते हुए रो पड़ती हैं।)

विदुर : माता धैर्य धारण करें !
कवच यह मिथ्या था
केवल स्वयं किया हुआ
मर्यादित आचरण कवच है
जो व्यक्ति को बचाता है
माता .....

(सहसा गान्धारी नेपथ्य की ओर देखती है।)

गान्धारी : कौन है वह
झाड़ी के पास मौन बैठा हुआ
कोई जीवित व्यक्ति ?

विदुर : माता !
उधर मत देखें।

गान्धारी : लगता है जैसे अश्वत्थामा

संजय : नहीं नहीं
इतना कुरूप
अंग-अंग गला कोढ़ से
रोगी कुत्तों-सा दुर्गन्धयुक्त।

गान्धारी : लौटा जा रहा है !
वह कौन है विदुर !
रोको !

विदुर : माता उसे जाने दें
वह अश्वत्थामा है

दण्ड उसे दिया भ्रूण-हत्या का कृष्ण ने
शाप दिया उसको
कि जीवित रहेगा वह
लेकिन हमेशा जख़्म ताज़ा रहेगा
प्रभु-चक्र उसके तन पर
रक्त सना घूमेगा
गहन वनों में युग-युगान्तर तक
अंगों पर फोड़े लिये
गले हुए जख़्मों से चिपटी हुई पट्टियाँ
पीप, थूक, कफ से सना जीवित रहेगा वह
मरने नहीं देंगे प्रभु ! लेकिन अगणित रौरव की
पीड़ा जगती रहेगी रोम-रोम में।

गान्धारी : संजय उसे रोको !
लोहा मैं लूँगी आज कृष्ण से उसके लिये।

संजय : माता, वह चला गया
आया था शायद विदा लेने
दुर्योधन के अन्तिम अस्थि-शेषों से।

गान्धारी : अस्थि-शेष ?
तो क्या वह पड़ा है
कंकाल मेरे पुत्र का ?

विदुर : धैर्य धरो माता !

गान्धारी : (हृदय-विदारक स्वर में)
तो, वह पड़ा है कंकाल मेरे पुत्र का
किया है यह सब कुछ कृष्ण
तुमने किया है यह

सुनो !
आज तुम भी सुनो

मैं तपस्विनी गान्धारी
अपने सारे जीवन के पुण्यों का
अपने सारे पिछले जन्मों के पुण्यों का
बल लेकर कहती हूँ

कृष्ण सुनो !

तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह
मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल यह
इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया
क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को
जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को
तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग
यदि मेरी सेवा में बल है
संचित तप में धर्म हैं

तो सुनो कृष्ण !

प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे

प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।

(वंशी-ध्वनि। कृष्ण की छाया)

कृष्ण-ध्वनि : माता !
प्रभु हूँ या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा, तुम माता हो !
मैंने अर्जुन से कहा –
सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योगक्षेम
मैं वहन करूँगा अपने कन्धों पर
अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
जितनी बार जो भी सैनिक भूमिशायी हुआ
कोई नहीं था
वह मैं ही था
गिरता था घायल होकर जो रणभूमि में ।
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, पीप, स्वेद बन कर बहूँगा
मैं ही युग-युगान्तर तक
जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ माँ।
शाप यह तुम्हारा स्वीकार है।

गान्धारी : यह क्या किया तुमने

(फूट-फूटकर रोने लगती है)

रोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिये
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है।
कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुःख होता ?
मैं थी निराश, मैं कटु थी,
पुत्रहीना थी ।

कृष्ण-ध्वनि : ऐसा मत कहो
माता !
जब तक मैं जीवित हूँ
पुत्रहीना नहीं हो तुम ।
प्रभु हूँ या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा
तुम माता हो ।

गान्धारी : रोते हुए
मैंने क्या किया विदुर ?
मैंने क्या किया ?

कथा-गायन

स्वीकार किया यह शाप कृष्ण ने जिस क्षण से
उस क्षण से ज्योति सितारों की पड़ गई मन्द
युग-युग की संचित मर्यादा निष्प्राण हुई
श्रीहीन हो गए कवियों के सब वर्ण-छन्द
यह शाप सुना सबने पर भय के मारे
माता गान्धारी से कुछ नहीं कहा
पर युग सन्ध्या की कलुषित छाया-जैसा
यह शाप सभी के मन पर टँगा रहा।

(पटाक्षेप)

❖❖❖